कुचक्री राजनीतिक दलों के खिलाफ निर्दोष नागरिक समाज की उल्लेखनीय सफलताएं

लोकतंत्र में हो रही है आस्था की बहाली

सामयिक

बारह सौ गैरसरकारी संगठनों ने मिलकर इलेक्शन वॉच बनाया है। कई लोग इसमें स्वैच्छिक तौर पर सक्रिय हैं। वे उम्मीदवार के आपराधिक अतीत का जोर-शोर से प्रचार करते हैं, जिसका मतदाताओं पर असर होता है।

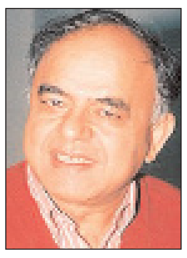

गुरचरण दास

एक और चुनाव आए और गए। कर्नाटक में चुनाव की धूल जमते-जमते, इलेक्शन वॉच नामक संगठन ने एक रिपोर्ट में बताया है कि नवनिर्वाचित विधानसभा के 224 विधायकों में से 40 विधायकों का आपराधिक रिकॉर्ड रहा है। चुनाव लड़ने वालों में तीन भाई भी थे - तीनों का ही आपराधिक रिकॉर्ड था। कम से कम एक की जीत सुनिश्चित करने के लिए तीनों ने तीन प्रमुख पार्टियों, कांग्रेस, भाजपा और जेडीएस के टिकट हासिल कर लिये। तरकीब काम आई - भाजपा के टिकट पर चुनाव लड़ने वाला जीत गया।

राजनीति में अपराधियों की मौजूदगी अब नई बात नहीं रही। जब कानून तोड़ने वाले कानून बनाने वालों की जमात में जा बैठें तो निराशा स्वाभाविक है। लेकिन तो भी भविष्य के बारे में आशान्वित होने के कई कारण हैं। कर्नाटक में इस बार 20 प्रतिशत कम अपराधी चुने गए हैं। पूर्व केंद्रीय मंत्री जाफर शरीफ एक कुख्यात अपराधी समीउल्लाह को स्थानीय चीख-पुकार के कारण कांग्रेस का टिकट नहीं दे पाए। गुजरात, दिल्ली, मध्यप्रदेश और राजस्थान में भी अपराधी विधायकों की संख्या कम हुई है। यहां तक कि भ्रष्ट उत्तर प्रदेश में भी 2007 में अपराधी विधायकों की संख्या 206 से घटकर 160 हो गई थी। बिहार मंत्रिमंडल में कोई अपराधी नहीं है। इलेक्शन वॉच जैसी संस्थाओं के दबाव के चलते भाजपा और कांग्रेस दोनों उम्मीदवारों का चयन ज्यादा सावधानीपूर्वक करने लगी हैं।

इस बेहतरी के लिए राष्ट्र को भारतीय प्रबंध संस्थान, अहमदाबाद के कुछ प्रोफेसरों का शुक्रिया अदा करना चाहिए। नब्बे के दशक में राजनीति के अपराधीकरण से आजिज आकर उन्होंने एसोसिएशन ऑफ डेमोक्रेटिक रिफॉर्म नामक संस्था बनाई। इस स्वैच्छिक गैरसरकारी संगठन ने 1999 में दिल्ली हाईकोर्ट में एक जनहित याचिका दाखिल करके मांग की कि चुनाव के समय चुनाव आयोग मतदाताओं को प्रत्याशियों के आपराधिक अतीत की जानकारी मुहैया कराए। वे जीत गए। सरकार और दलों ने सुप्रीम कोर्ट में अपील की, मई 2002 में आईआईएम के प्रोफेसर वह भी जीत गए। तब 21 पार्टियों ने अभूतपूर्व एकजुटता दिखाते हुए सुप्रीम कोर्ट के फैसले के खिलाफ जाने की धमकी दी, नतीजतन सरकार जल्दबाजी में एक अध्यादेश लाई। 2003 में उसे भी कोर्ट ने गैरकानूनी करार दिया। यही कारण है कि आज विधानसभा और संसद का चुनाव लड़ने वाले हरेक उम्मीदवार को नामांकन के समय अपने खिलाफ दर्ज आपराधिक मामलों का ब्योरा देना पड़ता है। चूंकि न्यायपालिका से अंतिम फैसला होने में बरसों लग जाते हैं इसलिए आपराधिक मामलों का खुलासा ही संभव सर्वश्रेष्ठ कदम था। यही बड़ा कदम साबित हुआ। साधारण नागरिक अब रिटर्निंग ऑफीसर या जिला निर्वाचन अधिकारी से उम्मीदवारों के हलफनामे की मांग कर सकते हैं। कई मामलों में इलेक्शन वॉच ने पाया कि उम्मीदवार ने हलफनामे में झूठ बोला है। इसकी सूचना भी उन्होंने चुनाव आयोग को दी।

कर्नाटक में इलेक्शन वॉच ने राजनीतिक दलों पर दबाव डाला, जिससे दूसरे और तीसरे चरण के चुनाव में कम अपराधी राजनीतिज्ञ मैदान में थे। ऐसे ही नागरिक दबावों के चलते सितंबर 2003 में चुनाव खर्चों को लेकर एक विधेयक पारित किया गया। इससे एक बड़ी विसंगति दूर हुई और अब उम्मीदवार की ओर से किए गए सभी खर्चों को शामिल किया जाता है और देखा जाता है कि उसने तय सीमा से ज्यादा खर्च तो नहीं किए हैं। पिछले महीने केंद्रीय सूचना आयोग ने व्यवस्था दी है कि लोग राजनीतिक दलों के आयकर रिटर्न की मांग कर सकते हैं और इससे भी नागरिकों के सूचना के अधिकार को काफी संबल मिलेगा। ये सभी राजनीतिक दलों के खिलाफ नागरिक समाज की सफलताएं हैं। लिहाजा भविष्य के प्रति आशावान हुआ जा सकता है। यह भी इतना ही सही है कि कुछेक दृढ़संकल्पी लोग समूचे राजनीतिक वर्ग के छल-प्रपंचों का मुकाबला कर सकते हैं और इसमें हमारी दो सम्मानीय संस्थाएं, न्यायपालिका और चुनाव आयोग, उनकी मदद करेंगे। इससे लोकतंत्र में हमारी आस्था बहाल होती है।

(लेखक प्रॉक्टर एंड गेम्बल के चेयरमेन व एम.डी. रह चुके हैं।)

फैक्ट फाइल | एक सर्वे के अनुसार धरती पर भारतीय आत्मविश्वास से सर्वाधिक लबालब हैं।

दस में से छह भारतीयों ने विदेशियों द्वारा भारतीय कंपनियों की खरीद का स्वागत किया

दुनिया में सबसे आत्मविश्वासी हम हिंदुस्तानी

सामयिक

दस साल पहले स्वदेशी जागरण मंच ने तिरंगा लहराते हुए टनों आंसू बहाए होते। फ्रांसीसियों ने अब भी सबक नहीं सीखा और लक्ष्मी मित्तल द्वारा आर्सेलर स्टील कंपनी को खरीदने की कोशिश पर भयावह प्रतिक्रिया की। हम जापानियों के साथ इज्जत से पेश आए।

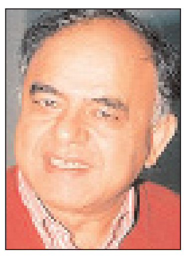

गुरचरन दास

विपक्ष के नेता लालकृष्ण आडवाणी ने 22 जून को मुंबई में कहा कि रैनबैक्सी का जापानी कंपनी के हाथों बिकना राष्ट्रीय हितों के साथ धोखाधड़ी है। उन्होंने यह भी कहा कि हमें सोचना चाहिए कि ऐसे सौदे से सस्ती दवाओं की सुलभता पर कैसा असर पड़ता है। श्री आडवाणी यह मानकर चल रहे हैं कि भारतीय रैनबैक्सी किसी विदेशी रैनबैक्सी की अपेक्षा अपनी दवाएं सस्ते दामों पर बेचेगी। हकीकत यह है कि कीमतों का भारतीय या विदेशी होने से कोई लेना-देना नहीं है। कीमतें बाजार में प्रतिस्पर्धा से निर्धारित होती हैं। भारत जैसे उग्र प्रतिस्पर्धी बाजार में, जहां 97.8 फीसदी दवाएं पेटेंट से बाहर हैं, जब प्रतिस्पर्धी कंपनी एक दवा 20 रुपये में बेच रही हो तो आप अपनी दवा 50 रुपये में नहीं बेच सकते। यही नहीं, हमारे यहां बहुधा इस्तेमाल होने वाली दवाओं पर मूल्य नियंत्रण प्रणाली लागू है।

पिछले कुछ सालों से मुझे रैनबैक्सी के बोर्ड में होने का विशेषाधिकार मिला है और मैंने गर्व के साथ इसे भारत की पहली सच्ची बहुराष्ट्रीय कंपनी बनते देखा है। इसने दर्जन भर अन्य कंपनियों को भी प्रेरित किया जिसके नतीजतन आज भारत में विश्व स्तरीय जेनेरिक दवा उद्योग है। इससे पश्चिम की विशाल कंपनियां डरती हैं क्योंकि यह उनके पेटेंटों को आक्रामक चुनौती देता है। हेल्थकेयर प्रोफेशनल इसकी तारीफ करते हैं क्योंकि यह दुनिया भर में दवाओं की कीमतें कम करने में मदद करता है।

इसलिए जब मालविंदर सिंह ने अपने परिवार की अंशपूंजी जापानी कंपनी दाईची सांक्यो को 10 हजार करोड़ रुपए में बेचने की घोषणा की तो मुझसे कैसी प्रतिक्रिया अपेक्षित थी? मैंने देखा कि मालविंदर का परिवार भी इस घोषणा से चकित था। महीनों चलने वाली बातचीत को वे इतना गोपनीय रख सके, इससे मेरे दिमाग में कंपनी का चरित्र ही प्रबल हुआ। शुरुआत में अलबत्ता मुझे अफसोस हुआ था-भारत की एक बेहतरीन कंपनी जापानी कंपनी की सहायक कैसे बन सकती है। लेकिन गहराई से सोचने पर मुझे लगा मैं गलत था। यह सौदा कंपनी को वैश्विक प्रतिस्पर्धा में और मजबूत बना सकता है।

आज दुनिया की बड़ी से बड़ी दवा कंपनियां संघर्ष से गुजर रही हैं। उनके पुराने पेटेंट खत्म हो रहे हैं और नई खोजें बेहद दुर्लभ हैं। हेल्थकेयर की बढ़ती लागत के चलते सस्ती जेनेरिक दवाओं का बाजार बढ़ रहा है। तीव्र प्रतिस्पर्धा के कारण रैनबैक्सी जैसी जेनेरिक दवा कंपनियों के मुनाफे में नाटकीय कमी आई है। इसका समाधान यही है कि नई-नई दवाओं की खोज में लगी पुरानी कंपनियां जेनेरिक दवा कंपनियों के साथ विलय कर लें। आज की दुनिया में अकेले लड़ते रहने की बजाय साथ मिलकर लड़ना बेहतर है। यही कारण है कि जापानी कंपनी ने रैनबैक्सी का मूल्य 8.5 बिलियन डॉलर तय किया जबकि उसके शेयर का बाजार मूल्य केवल 5 बिलियन डॉलर था। इसीलिए वह रैनबैक्सी की भावी आमदनी का 35 गुना ज्यादा दे रही है। फिर दोनों अलग-अलग की बजाय साथ मिलकर ज्यादा संपदा पैदा कर सकेंगी। लेकिन एक भारतीय कंपनी को बेचकर संपदा कैसे निर्मित हो सकती है? कंपनियां देश के लिए संपदा तब निर्मित करती हैं जब वे देशवासियों के लिए नौकरियां, शेयरधारकों के लिए लाभांश, सप्लायर के लिए राजस्व और सरकार के लिए टैक्स का निर्माण करती हैं। इन चारों के लिए रैनबैक्सी लाभ निर्मित करती रहती, लेकिन वह कम होता क्योंकि वैश्विक मानदंडों से वह अब भी छोटी और कमजोर कंपनी होती।

2008 का प्यू ग्लोबल सर्वे बताता है कि भारतीय आज धरती पर सबसे ज्यादा आत्मविश्वास से लबालब लोग हैं। इस साल की शुरुआत में 24 बड़े देशों के 24 हजार लोगों से सवाल किए गए। 10 में से 9 भारतीयों ने कहा कि विदेशी व्यापार देश के लिए बहुत अच्छा है या कुछ अच्छा है। 10 में छह भारतीयों ने विदेशियों द्वारा भारतीय कंपनियों की खरीद का स्वागत किया। भारतीयों की यह परिपक्वता 17 सालों तक टिकाऊ आर्थिक सुधारों का ही नतीजा है। हम समझ चुके हैं कि कंपनियों की खरीद-बिक्री दोतरफा गतिविधि है जिससे कंपनियों और राष्ट्रों दोनों की मूल्य वृद्धि होती है।

(लेखक प्रॉक्टर और गैंबल इंडिया के चेयरमैन और एमडी रह चुके हैं।)

फैक्ट फाइल | भारत में शहरों के 54 फीसदी और गांवों के 19 फीसदी बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ते हैं।

पश्चिमी देशों में स्कूलों से नदारद शिक्षकों को नौकरी से फौरन दफा कर दिया जाता है

अंग्रेजी काफी नहीं, बदले शिक्षा व्यवस्था

सामयिक

मायावती तारीफ की पात्र हैं कि उन्होंने अपने राज्य के बच्चों को अंग्रेजी पढ़ाने का फैसला किया। अगर वे शिक्षा व्यवस्था में आमूल-चूल बदलाव करने का साहस दिखाती हैं तो कल की प्रधानमंत्री वे ही होंगी।

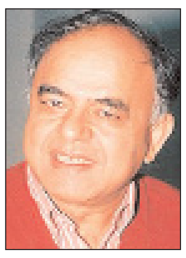

गुरचरण दास

गत 1 जुलाई का दिन उत्तरप्रदेश के शिक्षा जगत के लिए ऐतिहासिक दिन था। इसी दिन राज्य के इतिहास में प्रथम बार पहली व दूसरी कक्षाओं के बच्चों ने अंग्रेजी सीखना शुरू किया। मुख्यमंत्री मायावती के इस ऐतिहासिक निर्णय से निश्चित रूप से उनकी सूबे के सभी वर्गों में लोकप्रियता बढ़ेगी और राष्ट्रीय स्तर पर वे एक विश्वसनीय नेता के रूप में उभरेंगी। इससे यह बात भी साफ है कि वे अंततः यह बात समझ गई हैं कि आम्बेडकर की मूर्तियां लगाने की तुलना में लोगों की जरूरतों की पूर्ति करने से कहीं अधिक वोट मिल सकते हैं। मायावती के इस निर्णय की देशभर के दलितों ने तारीफ की है। अन्य समुदायों के बनिस्बत दलितों ने अंग्रेजी की ताकत को कहीं अच्छी तरह से महसूस किया है। मुंबई में अंतर्जातीय विवाहों पर हुआ एक अध्ययन बताता है कि जो दलित महिलाएं अंग्रेजी जानती हैं, उन्होंने दूसरी जातियों में विवाह करके कहीं तेजी से प्रगति की है।

उत्तरप्रदेश के शिक्षक हमेशा से अंग्रेजी के घोर विरोधी रहे हैं। मायावती को अब शिक्षकों के संगठनों की चुनौती से निपटने का भी साहस दिखाना चाहिए। मैं मायावती की तारीफ तब करूंगा जब वे प्राइमरी स्कूल व्यवस्था में आमूल-चूल सुधार करने का कोई फैसला लेती हैं। इस सुधार की शुरुआत स्कूलों में शिक्षकों की अनुपस्थिति नामक बीमारी को मिटाने के संकल्प के साथ होनी चाहिए। हार्वर्ड के दो अर्थशास्त्रियों द्वारा तैयार की गई प्रसिद्ध क्रीमर-मुरलीधरन रिपोर्ट के अनुसार चार में से एक शिक्षक स्कूल में उपस्थित नहीं रहता, जो उपस्थित होते हैं, उनमें चार में से एक पढ़ाता नहीं। यही वजह है कि पांचवीं कक्षा के आधे विद्यार्थी अपनी भाषा में भी एक पूरा वाक्य नहीं पढ़ सकते। इस प्रकार हर साल 50 हजार करोड़ रु. व्यर्थ हो जाते हैं।

आज तो हालात यह है कि गरीब वर्ग के अभिभावक भी अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों से हटाकर उनके ही इलाकों में फल-फूल रहे सस्ते निजी स्कूलों में डाल रहे हैं। इन स्कूलों में भी पढ़ाई का स्तर कोई बहुत अच्छा नहीं है, लेकिन कम से वहां शिक्षक तो दिखते हैं। इसी का नतीजा है कि आज शहरी इलाकों के 54 फीसदी और गांवों के 19 फीसदी बच्चे निजी स्कूलों में पढ़ रहे हैं। ऐसे देश के लिए यह एक नैतिक विफलता ही मानी जाएगी जहां 'गुरु' को पूजा जाता है। अगर किसी पश्चिमी या सुदूर पूर्वी देश में कोई शिक्षक लगातार अनुपस्थित रहता है तो उसे नौकरी से हटाने में एक मिनट का भी विलंब नहीं किया जाता, लेकिन भारत में ऐसा तीन वजह से नहीं किया जा सकता। एक, शिक्षक संघ बहुत ताकतवर हैं। दो, चुनावों में प्रायः शिक्षक ही पर्यवेक्षक होते हैं और इसलिए राजनेता उनसे भयभीत रहते हैं। और तीन, कुछ 'शिक्षक' अपनी नौकरियां खरीदते हैं और इसलिए उन्हें लगता है कि उन्हें पढ़ाने की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि उन्होंने पैसा चुकाया है।

सवाल यह है कि आखिर इस समस्या का समाधान क्या है? इसका एक समाधान यह हो सकता है कि सरकार बच्चे के पांच साल का होने पर प्रत्येक अभिभावक को एक वाउचर (स्कालरशिप जैसा) दे दें जिसे किसी भी स्कूल में शिक्षा के बदले भुनाया जा सके। चूंकि हर माता-पिता अपने बच्चे के लिए अच्छी स्कूल चाहते हैं, ऐसे में इन वाउचरों के लिए स्कूलों के बीच प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाएगी। हर स्कूल चाहेगा कि उसे ये वाउचर मिले, क्योंकि उसकी आय का यही एकमात्र जरिया होगा, लेकिन इसके लिए उसे अपने यहां शिक्षा के स्तर को सुधारना पड़ेगा। चूंकि शिक्षकों का वेतन भी इन्हीं वाउचर से प्राप्त राशि पर निर्भर करेगा, इसलिए उन्हें भी अध्यापन के प्रति गंभीर रहना पड़ेगा। वाउचरों के लिए प्रतिस्पर्धा से सरकारी और निजी दोनों स्कूलों के स्तर में सुधार होगा। खराब स्कूल बंद हो जाएंगे और अच्छे स्कूल फले-फूलेंगे। इसका एक अन्य फायदा यह भी होगा कि जो वाउचर अमीर के बच्चे को दिया जाएगा, वही वाउचर गरीब के बच्चे को भी मिलेगा। इससे गरीब को भी अमीर के समान अच्छे स्कूल में पढ़ने का मौका मिल सकेगा। अब मायावती को बुनियादी बदलाव की तरफ कदम बढ़ाने चाहिए।

(लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं)

आम जनता की ख्वाहिश इतनी है कि नेता उसकी अपेक्षाओं पर खरे उतरें

कब तक ढोएंगे विचारधाराओं का बोझ?

सामयिक

जब बच्चा क्लास में अच्छा प्रदर्शन नहीं करता तो हम उसे ट्यूशन या कोचिंग क्लास में भेजते हैं। क्या हमारे नेताओं के लिए भी ऐसी व्यवस्था पर विचार नहीं किया जाना चाहिए जहां वे शासन का पाठ सीखकर जनता की अपेक्षाओं को पूरा कर सकें?

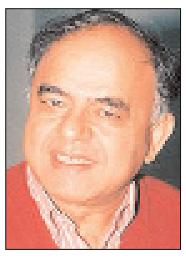

गुरचरण दास

बीते सोमवार और मंगलवार को विश्वास मत पर लोकसभा में हुई बहस कुछ अप्रिय प्रसंगों को छोड़कर मजेदार रही। खासकर राहुल गांधी व उमर अब्दुल्ला जैसे युवा नेताओं के भाषण बहुत प्रभावी रहे। 'कलावती' शब्द पर मुस्कराते राहुल व संसद सदस्यों के बीच मीठी नोक-झोंक से लगा कि संसद में हंसी-ठिठोली का भाव बरकरार है।

इस चर्चा से इस बात का भी अंदाजा हुआ कि 1991 के बाद से देश का राजनीतिक परिदृश्य कितना बदल चुका है। कभी आदर्श और बदलाव के वाहक रहे वामदल आज बचाव की मुद्रा में हैं। वामपंथी अपने ही हितों की बलि चढ़ते जा रहे हैं और विडंबना यह है कि वे इस स्थिति को बरकरार भी रखना चाहते हैं। उधर दक्षिणपंथी (जिन्हें भारत में राष्ट्रवादी हिंदुत्ववादी के रूप में जाना जाता है) समझ चुके हैं कि हिंदुत्व पर उनका हो-हल्ला ज्यादा दिन तक नहीं चलने वाला। हाल के कुछ चुनावों में वे इसलिए जीते क्योंकि उन्होंने कुछ अन्य मुद्दों को भी छूने का प्रयास किया था। जहां तक कांग्रेस का सवाल है, सबसे ज्यादा संकट में वही है। वह अब भी अपनी पारम्परिक प्रभुत्ववाद की मानसिकता से बाहर नहीं निकल पाई है।

सवाल यह है कि क्या हमारी आम जनता को किसी विचारधारा से कोई मतलब भी है? अगर नहीं तो फिर भला राजनेता उन विचाराधाराओं के आधार पर चुनाव जीतने का ख्वाब कैसे पाल लेते हैं? आम जनता को क्या चाहिए? वह तो बस इतना चाहती है कि उनकी जान-माल की सुरक्षा बनी रहे, अपने बच्चों को अच्छी स्कूल में भेज सके या जब वे बीमार पड़े तो उन्हें अच्छी मेडिकल सुविधा मिल सके। वे चलने के लिए अच्छी सड़कें चाहते हैं, सांस लेने के लिए शुद्ध वायु और पीने को स्वच्छ जल। वे चाहते हैं कि व्यापार करने के लिए उन्हें पुलिस या बाबुओं को रिश्वत नहीं देनी पड़े। न्याय के लिए वे ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जिसमें मामले अनावश्यक रूप से लटके नहीं। इसके अलावा वे केवल यही चाहते हैं कि उन्हें अकेला छोड़ दिया जाए ताकि वे खुद अपनी खुशियां ढूंढ़ सकें।

अचरज की बात यह है कि हमारे नेता उनकी यही अपेक्षाएं पूरी नहीं कर पाते। उन्हें अब भी लगता है कि वे हिंदुत्व, ओबीसी कोटा, समाजवाद या मुफ्त में टीवी सेट बांटने जैसी लोकलुभावन कवायद के नाम पर वोट हासिल कर सकते हैं। जब वे हारते हैं तो अपनी नाकामी का ठीकरा या तो 'सत्ता विरोधी रुझान' के माथे फोड़ते हैं या फिर अस्थिर मतदाताओं के सिर पर। अगर आप चुनाव जीतकर सत्ता में आते हैं, लेकिन आम लोगों की अपेक्षाएं पूरी नहीं कर पाते हैं तो इसका मतलब है कि आप अक्षम हैं। हममें से अनेक लोगों ने रेलवे अधिकारी ई. श्रीधरन का नाम सुना होगा। इस शख्स ने दिल्ली की जनता को विश्व स्तरीय मेट्रो की सौगात दी है। हमें राजनीति में भी ऐसे ही लोगों की जरूरत है। अगर श्रीधरन प्रधानमंत्री पद के उम्मीदवार हो, तो मैं अपना वोट उन्हें ही दूंगा। वे विचारधारा के नाम पर फैले हुए कचरे से परे हैं। उन्हें केवल इतना पता है कि किसी कार्य को क्रियान्वित कैसे करना है, जिसकी हमारे बहुत से नेताओं और मंत्रियों में कमी है।

हम भारतीय महाभारत का पाठ पढ़ते हुए बढ़े होते हैं जिसे एक बहुत ही व्यावहारिक आख्यान माना जा सकता है। युधिष्ठिर युद्ध में जाने का अनिच्छा से सही, लेकिन एक व्यावहारिक फैसला लेते हैं। भीष्म पितामह उन्हें मानवीय अपूर्णता के साथ जीने का सबक सिखाते हैं। उनकी सीख है कोई 'पूर्ण' नहीं है। हम सभी भारतीय भी इसी सबक पर चलते हुए सार्वजनिक जीवन में पूर्णता या विचारधारा के बहुत आग्रही नहीं होते हैं। विचारधारा के प्रति आग्रह समझौतों के सारे मार्ग बंद कर देता है और जब ऐसा होता है तो दुनिया एक खतरनाक मुहाने पर पहुंच जाती है। 20 वीं सदी का इतिहास कई विचारधाराओं की कब्रगाह के रूप में जाना जाएगा। इनमें से कई की शुरुआत अच्छे मकसद से हुई थी। अगर हमारे राजनीतिज्ञ विचारधाराओं को ताक पर रख दें, तो वे आम जनता की जरूरतों पर ध्यान दे पाएंगे। आखिरकार, राजनीति का मकसद भी यही है-जनता की अपेक्षाओं पर खरा उतरना।

(लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं)

सत्ता में हों या विपक्ष में, जरूरी है कि राजनेता जिम्मेदारीपूर्ण बर्ताव करें

यही वक्त है राजनीतिक दलों की एकजुटता का

सामयिक

देश पर लगातार हो रहे आतंकी हमले राष्ट्रीय इमरजेंसी जैसे हालात पैदा कर रहे हैं, जिसमें सभी राजनीतिक दलों को एक हो जाना चाहिए। प्रधानमंत्री को इस मोर्चे पर वही संकल्प दिखाना चाहिए, जो उन्होंने एटमी करार के वक्त प्रदर्शित किया था।

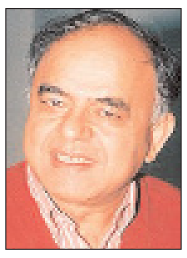

गुरचरण दास

गत सप्ताह एक भीगी मानसूनी दोपहर में मैं देश के दो वित्त मंत्रियों के साथ फिक्की के एक कार्यक्रम में शिरकत कर रहा था। इनमें एक थे मौजूदा वित्त मंत्री पी. चिदंबरम और दूसरे थे पूर्व वित्त मंत्री जसवंत सिंह। यह स्वामीनाथन अय्यर द्वारा लिखित एक पुस्तक का विमोचन समारोह था। राजनीतिज्ञों को खुश करने का एक ही नियम है- जी भर के चापलूसी करो, लेकिन मैंने एक अलग राह चुनी। मैंने नेताओं को आईने में झांकने को विवश किया। मैंने सुधारों की धीमी गति पर सवाल-जवाब किए। अब जबकि वामदल अलग हो गए हैं तो क्यों न कांग्रेस की 'ड्रीम टीम' को चार साल के नाकारापन से उबरने का प्रयास करना चाहिए?

चिदंबरम ने याद दिलाने की कोशिश की कि कैसे एनडीए के शासनकाल में बीमा बिल को पारित होने में पांच साल लग गए, जबकि उसे पांच माह से ज्यादा समय नहीं लगना चाहिए था। आमतौर पर प्रसन्नचित्त रहने वाले जसवंत सिंह उस दिन परेशान व बचाव की मुद्रा में नजर आए। इसकी एक वजह शायद एक दिन पहले ही सुषमा स्वराज की यह घोषणा थी कि आर्थिक सुधारों से संबंधित पेंडिंग बिलों को पारित करवाने में यूपीए सरकार को एनडीए कोई मदद नहीं देगा। उन्होंने इसका कारण 'संसद में नकदी कांड' से सरकार की छवि का दागदार होना बताया था।

ऐसा लगता है कि भाजपा को देश के नागरिकों का जीवन स्तर सुधारने से ज्यादा चिंता खुद की है। सुषमा स्वराज को याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि लोकसभा की कमेटी में पेंशन सुधार बिल पर वामदलों को छोड़कर अन्य लगभग सभी दलों के बीच सहमति बन चुकी है। इस बिल से सभी पेंशनरों की आय में इजाफा होगा और ईपीएफपी की मोनोपॉली टूटेगी। जब सुषमा स्वराज यह कहती हैं कि उनकी पार्टी पेंशन बिल को पारित नहीं होने देगी तो इसका मतलब यही है कि एक 'दागदार सरकार' से हाथ मिलाने के बजाय उन्हें पेंशनरों के हितों पर कुठाराघात करना ज्यादा पसंद है। बाद में चाय पर मणिशंकर अय्यर ने मुझ पर अलोकतांत्रिक विचारों को बढ़ावा देने का आरोप लगाया। मैंने तो अपने भाषण में यह कहा था कि अनेक लोकतांत्रिक देशों में जब बात राष्ट्रीय हितों की होती है तो वे दलीय हितों से ऊपर उठकर बर्ताव करते हैं। ब्रिटेन में उत्तरी आयरलैंड का मुद्दा सदैव दलीय हितों से परे रहा और वहां के प्रधानमंत्री ने इस मसले पर विपक्ष को सदैव भरोसे में लिया। अमेरिकी कांग्रेस में यह एक अलिखित नियम है कि जब राष्ट्रीय हित दांव पर लगे हों, तब राजनीति को किनारे ही रखना चाहिए। हमारे देश में ऐसा ही एक मौका एटमी करार को लेकर आया था। यह करार ऊर्जा जरूरत के बनिस्बत देश की सुरक्षा से अधिक जुड़ा है।

भाजपा और कांग्रेस दोनों ही इसकी जरूरत को लेकर सहमत थे, लेकिन यह करार बाद में राजनीति का बंधक बनकर रह गया। लोकतंत्र का मतलब यह नहीं है कि राजनीतिक दल हरदम रस्साकशी ही करते रहें। मतदाता इतने भी मूर्ख नहीं हैं। वे उन्हीं राजनेताओं को वोट देते हैं, जो जिम्मेदारीपूर्ण बर्ताव करते हैं, चाहे वे सत्ता में रहें या विपक्ष में। तो अब क्या किया जाना चाहिए? आतंकी हमलों के मद्देनजर प्रधानमंत्री को एक विशाल सर्वदलीय राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना चाहिए, जिसमें कुछ प्रमुख विपक्षी दलों की भागीदारी हो। इसमें उन्हें अगले 200 दिनों का एक एजेंडा पेश करके सभी दलों से सहमति हासिल करनी चाहिए। समर्थन मिलने के बाद उन्हें जुलाई, 1991 को दोहराने का प्रयास करना चाहिए।

मुझे जुलाई, 1991 में गुरुवार के दिन हुई वह बैठक याद आ रही है, जिसे नरसिंह राव के तत्कालीन प्रमुख सचिव एएन वर्मा ने संयोजित किया था। यही बैठक बाद में 1991 के आर्थिक सुधारों को अभूतपूर्व गति से लागू करने की प्रेरणा बनी। प्रधानमंत्री को चाहिए कि वे पीएमओ में भी ऐसी व्यवस्था बनाएं, जो सुधारों की प्रक्रिया पर साप्ताहिक रूप से निगरानी रख सके। आतंकियों को करारा जवाब देने का यही एक रास्ता है। अगर हम आर्थिक सुधारों की गति को जारी रखते हैं तो दुनिया को यह संदेश देने में कामयाब होंगे कि भारत के भाग्य की गति को कोई नहीं रोक सकता।

(लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल के चेयरमैन रह चुके हैं।)

आखिर क्या वजह है कि पाकिस्तान में निरंकुश तानाशाही है?

बेचैन कश्मीरी भारतीय लोकतंत्र को देखें

सामयिक

भारत के लोकतंत्र और पाकिस्तान की निरंकुश तानाशाही की जड़ें इतिहास में हैं। भारत में राष्ट्रवादी आंदोलन बहुत पुराना और गहरा है। असंख्य भारतीय महात्मा गांधी के आह्वान पर एकत्रित हुए। मुस्लिम राष्ट्रवाद बहुत बाद की उपज है।

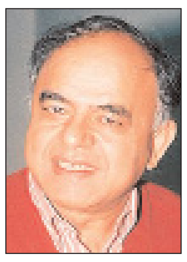

गुरचरन दास

इस हफ्ते एक कश्मीरी मुस्लिम छात्र मुझसे मिलने आया और जल्द ही हमारी बातचीत का रुख इस समय घाटी में बह रही आजादी की बयार की ओर मुड़ गया। वह बलपूर्वक कहता रहा कि आजाद कश्मीर एक साल भी नहीं टिक सकेगा। कश्मीर के पास एक ही विकल्प है कि वह या तो भारत या पाकिस्तान के साथ जुड़ जाए।

उसने बहुत आत्मविश्वास के साथ यह घोषणा की, 'कोई भी समझदार कश्मीरी खोखले होते पाकिस्तान के साथ नहीं जुड़ना चाहेगा।' मैंने उसकी आंखों में झांका और सोचा, क्या वह मुझे बहलाने की कोशिश कर रहा था। नहीं, वह सचमुच ऐसा ही सोचता था, जो उसने कहा था। उसने कहा कि वह भारत के लोकतंत्र का प्रशंसक हो गया है। थोड़े अंतराल के बाद उसने मुझसे पूछा, क्यूं भारत एक लोकतंत्र है और पाकिस्तान निरंकुश तानाशाही? इस बात ने मुझे सोचने पर विवश किया। मैंने कहा, पाकिस्तान एक मानक बन गया है। इतिहास बताता है कि तीसरी दुनिया के देश स्थिर लोकतंत्र नहीं बन सकते। भारत अपवाद है। जिन्ना धूल-धुसरित सड़कों के बजाय अपने सुसज्जित ड्रॉइंगरूम में ज्यादा मुतमइन थे। जब भारत तीन पीढ़ियों से आजादी के लिए संघर्षरत था, पाकिस्तान को कुछ वर्षों पहले ही आजादी की खुजली शुरू हुई थी। आजादी के बाद पाकिस्तान के राजनीतिज्ञों का बर्ताव बहुत बुरा रहा। मुस्लिम लीग बिखर गई, दस सालों में नौ सरकारें बनीं। अंततः 1958 में अयूब खान के नेतृत्व में सेना सत्ता पर काबिज हो गई। इसके ठीक उलट भारत में आजादी के बाद जिन राजनीतिज्ञों ने शासन किया, उन्हें जनता, ब्यूरोक्रेसी और सेना का सम्मान हासिल था। उन्होंने बड़ी निपुणता और सामर्थ्य के साथ शासन किया।

भारत के लोकतंत्र और पाकिस्तान की निरंकुशता के पीछे दूसरा कारण विविधताओं के प्रति दोनों देशों रुख रहा है। भाषा इसका सबसे मौजूं उदाहरण है। भारत में हमने भाषाई राज्य कायम किए, जिन्होंने विभिन्न भाषाई संस्कृतियों को फलने-फूलने का अवसर दिया। हमने सिर्फ हिंदीभाषियों की ही नहीं सुनी और सभी लोगों पर एक राष्ट्रभाषा को थोप नहीं दिया। पाकिस्तान ने ऐसा ही किया। 1948 में जिन्ना ने घोषणा की कि उर्दू पाकिस्तान की राष्ट्र भाषा होगी। उस समय सिर्फ 8 प्रतिशत पाकिस्तानी उर्दू बोलते थे, जबकि 55 प्रतिशत बंगालीभाषी थे। इसी से बांग्लादेश के बीज पड़े। श्रीलंका ने भी वही त्रासद भूल की। अगर उन्होंने तमिल को साझी भाषा बनाई होती तो तमिलभाषियों को नाराजगी नहीं होती, गृह-युद्ध नहीं होता, जो श्रीलंका में अब तक जारी है। अगर जिन्ना ने इस बात पर गौर किया होता और दूसरी सांस्कृतिक पहचानों को भी जगह दी होती तो समर्थ लीडरों का उद्‌भव होता, जिनमें जनता की लौ प्रज्ज्वलित होती। भारत की नीतियों ने हमेशा विविधता को प्रोत्साहन दिया। पाकिस्तान इस नींव पर खड़ा हुआ कि इस्लाम खतरे में है। यद्यपि जिन्ना आधुनिक राष्ट्र चाहते थे, लेकिन जनरल जियाउल हक ने धार्मिकता को बढ़ावा दिया। राष्ट्र की प्रतिबद्धता नेताओं और मौलवियों में बंट गई। 70 के दशक में परिदृश्य कुछ उलटा। जुल्फिकार अली भुट्टो ने लोकतंत्र की वापसी के प्रयास किए, जबकि भारत में इंदिरा गांधी तानाशाह हो रही थीं। 77 के चुनाव और भुट्टो की फांसी के बाद परिदृश्य फिर उलट गया था। भारत लोकतंत्र के और पाकिस्तान सैनिक तानाशाही की राह पर लौट गया था।

भारतीय लोकतंत्र का बुनियादी तार वह विचार है कि कानून और संविधान की नजर में सभी भारतीय नागरिकों के अधिकार समान हैं और हमारी पहली प्रतिबद्धता देश के संविधान के प्रति है। ब्रिटिश शासन के पहले हम समुदायों और राज्यों का समूह थे। ब्रिटिशों से हमने यह सबक लिया, इसलिए हमारी प्रतिबद्धता किसी धर्म, नस्ल या जाति के लिए नहीं है। मैंने कश्मीरी दोस्त को इतिहास की वृहद सैर कराई। उसने इच्छा जाहिर की कि कश्मीरी भारत के जीवंत जनतंत्र और समर्थ अर्थव्यवस्था को देखें। उसने महसूस किया कि कश्मीर के सामने आज वही सवाल खड़ा है, जो 47 में पाकिस्तान के सामने था, 'अगर उन्हें लगता है कि इस्लाम खतरे में है तो वे त्रासद पाकिस्तान की राह चुन लेंगे और अगर वे अनंत संभावनाओं वाला आधुनिक राज्य चाहते हैं तो भारत के साथ जाएंगे।'

(लेखक जाने-माने स्तंभकार हैं।)

सामयिक

कश्मीर पर मेरा नैतिक धर्मसंकट

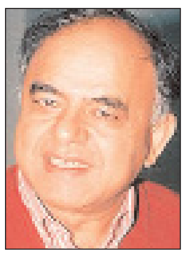

गुरचरन दास

कश्मीर में ताजा संकट ने उन प्रेतों को फिर जगा दिया है जिन्हें हमने सोया मान लिया था। मेरे भीतर एक उदार आवाज उठती है, जो कहती है कि लोगों को यह चुनने का हक है कि कैसा जीवन वे जीना चाहते हैं और किस मुल्क में रहना चाहते हैं। इसलिए घाटी के चालीस लाख लोगों को उनकी इच्छा के विरुद्ध भारत में रहने के लिए बाध्य नहीं किया जाना चाहिए। उदारवादी इसे आत्म-निर्णय का अधिकार कहते हैं। इसी सिद्धांत के बल पर हमने ब्रिटेन से आजाद होने की लड़ाई लड़ी थी और यही अब हमें कश्मीर पर लागू करना चाहिए। दूसरी ओर, उस देश की पुकार भी मेरे भीतर उठती है जिसने पिछले साठ सालों से मुझे पाला-पोसा है। इसी से मेरे भीतर राष्ट्रीयता का बोध विकसित हुआ है जिसकी वजह से कश्मीर के अलग होने का खयाल जेहन में आते ही मैं कांप उठता हूं। हमारे राष्ट्र के जन्म के समय जन्मे और अजन्मे सभी भारतीयों ने संविधान के सिद्धांतों के अनुरूप जीने का सामाजिक अनुबंध स्वीकार किया था। इसलिए अचानक एक दिन उठकर कोई अलगाववादी दूसरों की मंजूरी के बगैर इस अनुबंध को रद्द नहीं कर सकता।

लिहाजा मैं सचमुच नैतिक दुविधा या धर्मसंकट महसूस करता हूं। क्या मैं अपने नैतिक अंतःकरण और भारत राष्ट्र दोनों के प्रति एक साथ ईमानदार हो सकता हूं? मेरे अधिकार हैं लेकिन अन्य भारतीयों के प्रति मेरे कर्तव्य भी हैं। चूंकि हमारा राष्ट्र सहमति के आधार पर बनाया गया था, इसलिए इससे रिश्ते तोड़ने से पहले मुझे भारतीय जनता की सहमति लेनी होगी। मैं अचानक एक दिन उठकर अलग नहीं हो सकता। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने भी दो कर्तव्यों के बीच इसी दुविधा का सामना किया था - गुलामी के खिलाफ संघर्ष का कर्तव्य और अलगाववादियों के आत्म-निर्णय के अधिकार की रक्षा का कर्तव्य। उन्हें अमेरिकन साउथ को अलग होने से रोकने के लिए खूनी गृह युद्ध लड़ना पड़ा था।

> भारत ने कई गलतियां की हैं, मानवाधिकारों का उल्लंघन किया है, भीषण ढंग से राजकाज चलाया। तब भी यह वैध लोकतंत्र है। हमारा संविधान अलग होने का अधिकार नहीं देता, क्योंकि विक्षुब्ध अल्पसंख्यक समुदाय अलगाव का इस्तेमाल रणनीतिक सौदेबाजी के औजार और बहुसंख्यक शासन पर वीटो के रूप में करके लोकतंत्र पर कुठाराघात कर सकते हैं।

राजनीति के प्रथम सिद्धांतों में से एक यह है कि आप निजी नैतिकता को राज्य के ऊपर नहीं थोप सकते। महान समाजशास्त्री मैक्स वेबर हमें सिखाते हैं कि शासक को हर हाल में 'उत्तरदायित्व की नैतिकता' का पालन करना चाहिए, न कि 'अंतःकरण की नैतिकता' का। जब देश से अलग होने की बात आती है, तो मनमोहन सिंह को केवल अपने निजी अंतःकरण के बारे में सोचने की सुविधा नहीं है। अगर अलगाव की मांग धर्म पर आधारित हो तो उन्हें बहुलतावादी भारत के विचार के जख्मी होने की चिंता भी करनी पड़ेगी। अगर एक और विभाजन की संभावना दिखाई दे, तो उन्हें लाखों मुसलमानों के जीवन की रक्षा की चिंता भी करनी पड़ेगी।

भारत ने कई गलतियां की हैं। मानवाधिकारों का उल्लंघन किया है, चुनाव में धोखाधड़ी की, भीषण ढंग से राजकाज चलाया। तब भी मेरी नजर में यह वैध लोकतंत्र है। हमारा संविधान अलग होने का अधिकार नहीं देता, क्योंकि विक्षुब्ध अल्पसंख्यक समुदाय अलगाव का इस्तेमाल रणनीतिक सौदेबाजी के औजार और बहुसंख्यक शासन पर वीटो के रूप में करके लोकतंत्र पर कुठाराघात कर सकते हैं। इसी वजह से मैं लेखिका अरुधंती रॉय, स्तंभकार वीर संघवी और स्वामीनाथन अय्यर से असहमत हूं, जिन्होंने हाल में कश्मीर के अलग होने की हिमायत की है। मैं भाजपा के अरुण जेटली से भी असहमत हूं जिनके लिए क्षेत्रीय एकता का किसी भी कीमत पर उल्लंघन नहीं होना चाहिए। मेरे तईं सभ्य राष्ट्रीयता सर्वानुमति में निहित है। कश्मीर को सर्वानुमति से अलग होने की इजाजत होनी चाहिए, जैसा नार्वे ने 1905 में स्वीडन से अलग होकर किया था। इसके लिए हमारे मूल सामाजिक अनुबंध के तहत कश्मीर में ही नहीं, पूरे भारत में जनमत संग्रह करवाना होगा।

अंत में, अगर कोई हिस्सा देश से अलग होने की मांग करता है तो सारे भारतीयों को चाहिए कि वे अपने को एक बार आईने में देखें। हममें क्या कमी है जिसकी वजह से हमारी टीम का एक सदस्य हमेशा के लिए अलग होना चाहता है। साफ तौर पर राजकाज भारत की कमजोरी है, खासकर नागरिकों को बुनियादी सेवाएं मुहैया करवाने में राज्य की विफलता। पुलिस, अदालत और नौकरशाही के मामलों में हमने अपने लोगों को निराश किया है। संस्थाएं पतन की ओर जा रही हैं। अलगाव की एक भी मांग उठती है तो हमें संस्थाओं की बेहतरी के लिए जुट जाना चाहिए। हमें भारत को और बेहतर बनाना होगा।

(लेखक प्रोक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन व मैनेजिंग डायरेक्टर रह चुके हैं।)

सामयिक

स्वीडन से सीखने लायक एक मिसाल

भारतीय स्कैंडिनेविया के बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं। इसमें उत्तरी यूरोप के चार देश- स्वीडन, नार्वे, डेनमार्क और फिनलैंड शामिल हैं। हममें से कुछ लोग मोबाइल कंपनी नोकिया के बारे में जरूर जानते हैं जो फिनलैंड की है। भौगोलिक विविधताओं में आनंद लेने वाले लोगों की नजर में यह ऐसी जगह है जहां गर्मी में मध्यरात्रि तक सूरज के दर्शन किए जा सकते हैं।

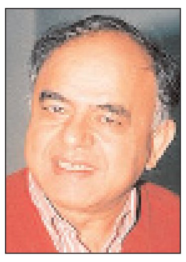

गुरचरन दास

मेरे जैसे पुराने उदारवादी स्कैंडिनेविया को अत्यंत नियंत्रित, नौकरशाही ग्रस्त और अत्यधिक टैक्स वाली अर्थव्यवस्था के रूप में याद करते हैं। लेकिन आर्थिक सुधारों के बाद वहां का परिदृश्य काफी बदल गया है। अब स्कैंडिनेवियाई देश समाजवाद और पूंजीवाद के मिश्रण का बेहतरीन उदाहरण हैं। यह अपने नागरिकों का सबसे ज्यादा ख्याल रखने वाला समाज है। यह व्यापार करने के लिए भी बेहद अनुकूल क्षेत्र बन चुका है। अगर आप वहां कोई उद्योग शुरू या बंद करना चाहते हैं तो आपको केवल एक दिन लगेगा। वहां कर्मचारियों को नौकरी पर रखना भी आसान है और निकालना भी। लालफीताशाही न के बराबर है, भ्रष्टाचार का भी उन्मूलन किया जा चुका है। वहां के लोगों का जीवन स्तर दुनिया में सबसे ऊंचा है। ऐसे में अगर अन्य देशों को इससे ईर्ष्या हो तो कोई अचरज नहीं होगा।

डेनमार्क में श्रम सुधारों ने व्यापार को बेहद आसान बना दिया है। ऐसे ही श्रम सुधारों की भारत में भी दरकार है, लेकिन इस मामले में हम आज भी पिछड़े हैं। भारत के श्रम कानून नौकरियों का संरक्षण करते हैं, जबकि डेनमार्क के कानून नौकरियों का नहीं, कर्मचारियों का संरक्षण करते हैं। इससे वहां उद्योगपति और कर्मचारी दोनों ही खुश रहते हैं। इसके विपरीत भारत का व्यवसायी किसी को अधिकृत तौर पर नौकरी पर रखने से डरता है, क्योंकि एक बार नियुक्ति देने के बाद उसे हटाना लगभग असंभव हो जाता है। भारत में तब तक औद्योगिक क्रांति की उम्मीद नहीं की जा सकती, जब तक कि वह बाबा आदम के जमाने के श्रम कानूनों का पूरी तरह से खात्मा नहीं कर देता।

> स्वीडन का स्कूली मॉडल हमारे देश के लिए बेहद प्रासंगिक है जहां सरकारी स्कूलों की विफलता जगजाहिर है। यदि हमारे यहां का कोई राजनेता इस स्कूली पैटर्न का अनुसरण करे तो यकीन मानिए, वह कभी चुनाव नहीं हारेगा। इस पैटर्न से सभी को शिक्षा के समान अवसर मिलेंगे और सरकारी स्कूलों के शैक्षणिक स्तर में भी सुधार होगा।

स्वीडन में 1990 के दशक के पूर्वार्द्ध में हुए शैक्षणिक सुधारों में भारत अपने लिए भी सबक ढूंढ सकता है। स्वीडन में शैक्षणिक सुधार दो चरणों में हुए। पहले चरण में स्कूलों का नियंत्रण स्थानीय प्रशासन के हाथों में सौंप दिया गया। दूसरे चरण में अभिभावकों को सरकारी या निजी स्कूलों में से किसी में भी अपने बच्चे का दाखिला करवाने की छूट दी गई। इसके तहत सरकार अभिभावकों को वाउचर (एक प्रकार की छात्रवृत्ति) देती है। इन वाउचरों को हासिल करने के लिए स्कूलों में प्रतिस्पर्धा होती है क्योंकि इन्हीं के बदले में उन्हें सरकार से पैसा मिलता है। हर स्कूल की कोशिश बेहतरीन शिक्षा देने की होती है।

स्वीडन का यह स्कूली मॉडल हमारे देश के लिए बेहद प्रासंगिक है जहां सरकारी स्कूलों की विफलता जगजाहिर है। मध्यमवर्ग के लोगों ने काफी पहले ही सरकारी स्कूलों में अपने बच्चों को भेजना बंद कर दिया था। अब तो गरीब भी सरकारी स्कूलों से कन्नी काटने लगे हैं, अपने बच्चों को सस्ते निजी स्कूलों में डालने लगे हैं। यदि हमारे यहां का कोई राजनेता स्वीडन के इस स्कूली पैटर्न का अनुसरण करे तो यकीन मानिए, वह कभी चुनाव नहीं हारेगा। इससे मध्यम वर्ग से लेकर गरीब परिवार सब खुश होंगे क्योंकि सभी को शिक्षा के समान व बेहतर अवसर मिलेंगे। जिस स्कूल का शैक्षणिक स्तर जितना अच्छा होगा, उसे उतने ही अधिक वाउचर मिलेंगे और जितने अधिक वाउचर मिलेंगे, शिक्षकों को भी उतना ही अधिक वेतन मिलेगा। इससे सरकारी स्कूलों में भी शिक्षा का स्तर सुधरेगा क्योंकि शिक्षकों का वेतन उनके स्कूलों को मिलने वाले वाउचरों पर निर्भर करेगा।

स्वीडन में स्कूली सुधार एक बड़ी मिसाल है। यह निजी उद्यमियों व निवेशकों के अनुकूल है। इसमें सरकार को भी भूमिका निभाने का मौका मिलता है। वैसे स्वीडिश सरकार अपनी ओर से केवल संसाधन मुहैया करवाकर मूलभूत दिशा-निर्देश तैयार करती है। शेष जिम्मेदारी निजी क्षेत्र की होती है।

यहां कुछ ऐसे भारतीय भी होंगे जो कहेंगे कि स्वीडन जैसे छोटे-से देश से भारत को भला क्यों सबक सीखना चाहिए? लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि महान देश केवल इसलिए महान बने क्योंकि उन्होंने दूसरों से सीखने में कोई शर्म महसूस नहीं की और जो भी उन्हें ठीक लगा, उसे स्वीकारने में भी देर नहीं लगाई।

(लेखक प्रोक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन व मैनेजिंग डायरेक्टर रह चुके हैं।)

सामयिक

सिंगूर की त्रासदी में सभी की पराजय

जब आप दो पीढ़ियों से लोगों को दूसरों के संपत्ति के अधिकार की रक्षा न करना सिखा रहे हों, तो त्रासदी का होना तय ही है।

नैनो के लिए फैक्टरी पश्चिम बंगाल में लगाने का रतन टाटा का निर्णय आश्चर्यजनक ही था। हालांकि बंगाल की छवि हाल के वर्षों में कुछ सुधरी है, लेकिन यहां की बदतर कार्य संस्कृति अब भी ज्यादातर व्यवसायियों के लिए चिंता का विषय है। यहां के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य 1000 एकड़ जमीन और श्रेष्ठतम रियायतों के साथ वह नैनो को राज्य में लाने में कामयाब हुए थे।

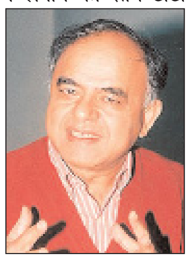

गुरचरन दास

सरकार ने बाजार मूल्य से ज्यादा की पेशकश की थी, लेकिन तो भी सिंगूर के कई किसान अपनी जमीन बेचने को तैयार नहीं थे। जब उन्होंने विरोध किया, तो सत्ताधारी पार्टी ने ताकत और पुलिस के जोर पर उन्हें जमीनें बेचने को मजबूर किया। इन टकरावों में कुछ लोग मारे गए और कई घायल हुए। तभी विपक्षी नेता ममता बनर्जी ने वोट जुटाने का मौका देखा और संघर्ष में कूद पड़ीं। उन्होंने मांग की कि जबरदस्ती खरीदी गई 300 एकड़ जमीन उनके मालिक किसानों को वापस की जाए। अब तक नैनो फैक्टरी तैयार हो चुकी थी। टाटा के पास जमीनों के साफ अधिकार थे। उन्होंने कहा कि नैनो के पुरजे बनाने वाली कंपनियों को बसाने के लिए उन्हें पूरे हजार एकड़ जमीन चाहिए। जल्दी ही ममता का आंदोलन बेकाबू हो गया। कर्मियों की सुरक्षा के डर से टाटा को सिंगूर छोड़ने का कठिन निर्णय लेना पड़ा।

> यह ऐसी त्रासदी है जिसमें सभी सही हैं और सभी पराजित हैं। माकपा की हिंसा की संस्कृति का पर्दाफाश हो चुका है। बुद्धदेव की बंगाल के औद्योगिक पुनरोत्थान की उम्मीदें चकनाचूर हो चुकी हैं। नैनो की एक लाख की जादुई कीमत खतरे में पड़ चुकी है क्योंकि टाटा को संयंत्र दूसरी जगह ले जाने पर भारी खर्च करना होगा। ममता बनर्जी को केवल टाटा को भगाने और बंगाल का भविष्य बर्बाद करने के लिए याद किया जाएगा

यह ऐसी त्रासदी है जिसमें सभी सही हैं और सभी पराजित हैं। माकपा की हिंसा की संस्कृति का पर्दाफाश हो चुका है। बुद्धदेव की बंगाल के औद्योगिक पुनरोत्थान की उम्मीदें चकनाचूर हो चुकी हैं। नैनो की एक लाख की जादुई कीमत खतरे में पड़ चुकी है क्योंकि टाटा को संयंत्र दूसरी जगह ले जाने पर भारी खर्च करना होगा। ममता बनर्जी को केवल टाटा को भगाने और बंगाल का भविष्य बर्बाद करने के लिए याद किया जाएगा क्योंकि अब कोई समझदार उद्योगपति लंबे समय तक बंगाल में निवेश करना नहीं चाहेगा। सिंगूर के लोगों का बेहतर जीवन का सपना टूट चुका है। भारत की छवि धूमिल हो चुकी है।

तो अब दोष किसे दिया जाए? यह बात साफ है कि जबरदस्ती जमीनों का अधिग्रहण करके राज्य सरकार ने किसानों के संपत्ति के अधिकार का उल्लंघन किया है। साठ सालों से हमें यह विश्वास दिलाया जाता रहा है कि संपत्ति का अधिकार केवल अमीरों का ही होता है। यह हम तब से मानते आए हैं जब जमींदार और बड़े उद्योगपति निशाने पर थे, जिनके बैंकों और बीमा कंपनियों का बगैर किसी मुआवजे के 1950 और 1970 के बीच राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। न्यायपालिका सरकारों को चेतावनियां देती रही कि संपत्ति का अधिकार संविधान में बुनियादी अधिकार है। लेकिन हमारी समाजवादी सरकारें अधीर थीं और 1978 के एक खराब दिन जनता सरकार ने संविधान में बुनियादी अधिकारों की सूची से संपत्ति को हटा दिया।

जिन समाजों में संपत्ति का अधिकार सुरक्षित है और कानून के हाथों लागू किया जाता है, वहां के नागरिक सुरक्षित महसूस करते हैं। कई अवसरों पर सड़क बनाने जैसे सार्वजनिक मकसद के लिए निजी जमीन राज्य को लेनी पड़ती है। लेकिन निजी उद्योग लगाने के लिए किसानों की संपत्ति लेना सार्वजनिक मकसद की श्रेणी में नहीं आता। ममता ने केंद्र सरकार को उसकी गलती का अहसास करवाया जिसकी बदौलत नया जमीन अधिग्रहण विधेयक अगले सत्र में संसद की मंजूरी के लिए रखा जाने वाला है। यह कानून सरकारों को उद्योगों को बेचने के लिए किसानों की जमीन के अधिग्रहण से रोकेगा। भविष्य में उद्योगों को सीधे किसानों से बात करनी होगी। सरकार सिर्फ तभी हस्तक्षेप कर सकेगी जब कोई गतिरोध हो और 70 फीसदी किसान अपनी जमीनें बेचने को राजी हों। दुनिया का कोई भी देश खेती-किसानी के बूते पर समृद्ध नहीं हुआ है और एक न एक दिन किसान का बेटा अपनी जमीन बेचकर शहरी सर्वहारा में शामिल होना चाहेगा। उसकी सुरक्षा का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उन्हें संपत्ति पर सुस्पष्ट स्वामित्व दिया जाए। सरकार को भू-अभिलेख इंटरनेट पर डाल देने चाहिए ताकि भ्रष्ट राजस्व अधिकारी गरीबों का शोषण न कर पाएं। त्रासदियों से बचना तो खैर संभव नहीं है, लेकिन संपत्ति के अधिकार जैसी संस्थाओं को बेहतर बनाकर उन्हें कम किया जा सकता है।

(लेखक प्रोक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।)

देर-सबेर अतिवादी भी तलाशेंगे सुंदर घर

लोकतंत्र और पूंजीवाद ही होंगे हमारे तारणहार

सामयिक

ऐसे समय में जबकि पूंजीवाद अपने अब तक के सबसे कठिन दौर से गुजर रहा है, उसके भविष्य के प्रति इतनी निश्चितता से आश्चर्य हो सकता है, लेकिन भारत और चीन दोनों यह बात समझ चुके हैं कि उनके करोड़ों लोगों को समृद्ध बनाने में पूंजीवाद ही कारगर साबित होगा।

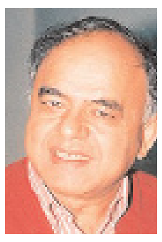

गुरचरन दास

वैश्विक मंदी ने भारत की उभरती अर्थव्यवस्था के लिए जितना बड़ा खतरा पैदा किया है, उतना ही बड़ा खतरा हमारे जीवन में धार्मिक कट्टरता की घुसपैठ ने किया है। इससे लगातार यह सवाल उठता है कि आखिर हम किस भविष्य की तरफ बढ़ रहे हैं?

मेरा मानना है कि एक आधुनिक, सम्पन्न और लोकतांत्रिक राष्ट्र के रूप में भारत का भविष्य उज्जवल है, इसे आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। इसलिए लगातार होने वाले आतंकी हमले त्रासदीदायक तो हैं, लेकिन अंततः ये निरर्थक ही साबित होंगे। मुस्लिम कट्टरपंथी हों व उड़ीसा में ईसाइयों पर हमले करने वाले हिंदू अतिवादी, ये आतंक के ही छद्म रूप हैं और धीरे-धीरे अपना आकर्षण खोते जाएंगे। देर-सबेर अतिवादी भी अच्छी नौकरियां, सुंदर घर और अपने बच्चों के लिए अच्छी स्कूल तलाशने लगेंगे। चूंकि युद्धों की अपेक्षा शांति के प्रति आकर्षण ज्यादा है, इसलिए अंततः व्यापार ही उपलब्धि का मार्ग बनेगा और हिंसा को विश्वास व सहयोग के लिए रास्ता छोड़ना होगा।

इतिहास भी मेरी बात का गवाह है। पिछली दो सदियों से लोकतंत्र और बाजार पूंजीवाद का तालमेल सभी सामाजिक व्यवस्थाओं पर भारी पड़ा है। उदार लोकतंत्र ने सामंतवाद, राजतंत्र, धर्मतंत्र और साम्प्रदायिकता पर सदैव विजय हासिल की है। यूरोप जो कभी धार्मिक युद्धों और असहिष्णुता का शिकार रहा, आज सर्वाधिक शांत, सहिष्णु ओर धर्मनिरपेक्ष क्षेत्र है। सदी की शुरुआत में पूरी दुनिया में केवल 10 देश लोकतांत्रिक थे, आज इनकी संख्या करीब 120 तक पहुंच चुकी है।

सितंबर 2001 में अमेरिका पर मुस्लिम कट्टरपंथियों के हमलों के दौरान अमेरिकी विचारकों ने उदार लोकतंत्र के भविष्य को लेकर सवाल उठाए थे। राजनीतिक वैज्ञानिक सैम्युअल हटिंगटन ने अपनी पुस्तक 'द क्लेश ऑफ सिविलाइजेशन' में लिखा है कि भविष्य के संघर्ष देशों के बीच नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक सभ्यताओं के बीच होंगे। उन्होंने भविष्यवाणी की थी कि पश्चिम से मुकाबला करने के लिए इस्लामवादी और चीन हाथ मिला लेंगे। हालांकि फ्रांसिस फुकुयामा ने अपनी किताब 'द एंड आफ हिस्ट्री' में लिखा है कि साम्प्रदायिता के खात्मे के बाद अधिकांश देश पूंजीवादी लोकतंत्र को स्वीकार कर लेंगे और दुनिया में अंततः शांति छा जाएगी।

मेरा सभ्यताओं के संघर्ष के सिद्धांत में विश्वास नहीं है। 'सभ्यता' नामक यह धारणा ही अपने आप में बहुत अस्पष्ट है। कट्टरपंथी इस्लामी ताकतों को मैं धार्मिक विचारधारा के बजाय राजनीतिक अधिक मानता हूं। सैयद कुत्ब और ओसामा बिन लादेन हिंसा के जिस राजनीतिक विचार का पोषण करते हैं, उसका उद्गम इस्लाम नहीं बल्कि यूरोप की कट्टर अराजक विचारधारा से हुआ है। इस्लाम में इस खतरनाक विचारधारा को केवल राजनीतिक उद्देश्यों से लागू किया जा रहा है। सवाल यह है कि हम आतंकवाद का मुकाबला कैसे करें और भारत के उदार लोकतंत्र को इसके खतरे से किस तरह से बचाएं? अभी तक हमने अमेरिका की बनिस्बत कहीं अधिक समझदारी व परिपक्वता का परिचय दिया है। हम संयत बने हुए हैं और अमेरिका जैसे मानसिक उन्माद के शिकार नहीं हुए हैं। इससे आतंकवादियों को निश्चित तौर पर निराशा होनी चाहिए।

भारतीय राज्य समूहों पर व्यक्ति की सर्वोच्चता को स्थापित करने में विफल रहा है, जबकि एक उदार संविधान की भावना के अनुरूप सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए। मुस्लिम जगत भी इसी समस्या से पीड़ित है। धर्म एक दुधारी तलवार के समान है। यह लोगों को अर्थ प्रदान करता है, लेकिन साथ ही पृथकत्व की भावना भी पैदा करता है। मेरा मानना है कि लोकतांत्रिक पूंजीवाद ही अंततः भारत में रहेगा। ऐसे समय में जबकि पूंजीवाद अपने अब तक के सबसे कठिन दौर से गुजर रहा है, उसके भविष्य के प्रति इतनी निश्चितता से आश्चर्य हो सकता है। भारत और चीन दोनों यह बात समझ चुके हैं कि उनके करोड़ों लोगों को समृद्ध बनाने में पूंजीवाद ही कारगर साबित होगा।

लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

सामयिक

गरीबों को सेहतमंद बनाएगा स्मार्ट कार्ड

एक सामान्य भारतीय परिवार तब सबसे ज्यादा चिंतित होता है, जब उसका कोई सदस्य बीमार पड़ जाता है। कई बार गंभीर बीमारी परिवारों का दिवाला निकाल देती है। एनएसएसओ की 2004 की रिपोर्ट के अनुसार ग्रामीण इलाकों में 65 फीसदी परिवार केवल बीमारी की वजह से कर्ज के जाल में फंस जाते हैं।

इस बीमारी का इलाज स्वास्थ्य बीमा में है, लेकिन भारत में इसका दायरा बहुत सीमित रहा है। अब इस दिशा में राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना (आरएसबीवाई) ने एक नई उम्मीद जगाई है। यह गरीबों के लिए स्वास्थ्य बीमा योजना है। इसमें एक गरीब परिवार को साल भर में 30 हजार रुपए का स्वास्थ्य बीमा मिल सकेगा। इसके लिए 600 रुपए का वार्षिक प्रीमियम चुकाना होगा और गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के लिए यह राशि सरकार देगी। इस योजना का लाभ 'स्मार्ट कार्ड' के जरिये मिल सकेगा जिसके लिए लाभार्थी को केवल 30 रुपए देने होंगे।

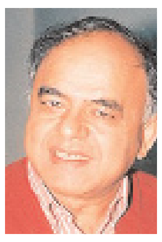

गुरचरन दास

अन्य सरकारी योजनाओं के विपरीत इस योजना के सफल होने की संभावना है और इसकी सबसे बड़ी वजह है अस्पताल चुनने की आजादी और विभिन्न अस्पतालों व बीमा कंपनियों के बीच प्रतिस्पर्धा। बीमा कंपनियों ने अपनी सूची में एक हजार से भी अधिक अस्पतालों को शामिल किया है जिनमें से किसी भी अस्पताल में बीमार व्यक्ति भर्ती हो सकता है। राज्यों को निजी या सरकारी किसी भी बीमा कंपनी का चुनाव करने की छूट है। बीमा कंपनियां इस योजना में इसलिए रुचि दिखाएंगी क्योंकि उन्हें प्रत्येक कार्ड पर 500 रुपए से भी अधिक की राशि प्रीमियम के तौर पर मिलेगी। अस्पताल गरीबों का इसलिए स्वागत करेंगे क्योंक उन्हें 30 हजार रुपए तक की राशि मिल सकेगी।

यह स्मार्ट कार्ड यूजर फ्रेंडली है। करीब 725 बीमारियों के लिए इसके जरिये कैशलेस व पेपरलेस उपचार की सुविधा मिलेगी। इस कार्ड में यह भी व्यवस्था है कि कितने रुपए का लाभ उठाया जा चुका है, उसका भी हिसाब-किताब रहेगा। यह कार्ड एक राज्य के व्यक्ति को दूसरे राज्य में भर्ती होने की सुविधा प्रदान करता है। कम्प्यूटर साफ्टवेयर से निर्मित ये स्मार्ट कार्ड गड़बड़ियों से मुक्त हैं। अब तक पांच लाख कार्ड वितरित किए जा चुके हैं। गुजरात और हरियाणा ने इस कार्यक्रम को हाथों-हाथ लिया है। केरल ने तो इस योजना को सभी के लिए खोल दिया है। अधिकांश राज्य सरकारों ने योजना को स्वीकार कर लिया है क्योंकि केंद्र सरकार इसमें अपनी ओर से 75 फीसदी राशि का योगदान दे रहा है। केवल मध्यप्रदेश और पूर्वोत्तर राज्य (नगालैंड को छोड़कर) योजना में शामिल नहीं हुए हैं। आंधप्रदेश की अपनी स्वयं की योजना है।

> भारत हर साल गरीबों को सब्सिडी पर 7 लाख 50 हजार करोड़ रुपए खर्च करता है। इतनी राशि में तो गरीबी ही दूर हो जानी चाहिए थी ।
>
> **लेकिन भ्रष्टाचार और उच्च प्रशासनिक खर्चों की वजह से गरीबी बरकरार है। स्मार्ट कार्ड इस समस्या का भी समाधान कर सकता है।**
>
> **भ्रष्ट लोग स्मार्ट कार्ड की राह में भी कांटे बिछाने का प्रयास करेंगे, लेकिन प्रौद्योगिकी की अपनी गति होती है और वह इसी गति से आगे बढ़ती है।**

यदि सब कुछ योजनानुसार होता है तो अगले पांच साल में 6 करोड़ परिवार यानी करीब 30 करोड़ लोग इस योजना के दायरे में आ जाएंगे। यह संख्या देश की आबादी का करीब एक तिहाई हिस्सा है। इस पर सालाना महज 4,500 करोड़ रुपए खर्च होंगे जो अन्य दर्जनों विफल सरकारी योजनाओं में बहाई गई राशि की तुलना में बेहद कम है। पूर्ववर्ती स्वास्थ्य बीमा योजनाएं इसलिए विफल रहीं, क्योंकि वे केवल सरकारी अस्पतालों व सरकारी बीमा कंपनियों तक सीमित थीं। इस नई योजना के सफल होने की संभावना इसलिए है क्योंकि इसमें सभी को लाभ का एक हिस्सा मिलना तय है और इसलिए अस्पताल से लेकर बीमा कंपनियां सभी चाहेंगी कि खर्च की गई धनराशि में गड़बड़ी न हो क्योंकि इससे उनके हिस्से पर ही लात पड़ेगी।

भारत हर साल गरीबों को सब्सिडी पर 7 लाख 50 हजार करोड़ रुपए खर्च करता है। इतनी राशि में तो गरीबी ही दूर हो जानी चाहिए थी, लेकिन भ्रष्टाचार और उच्च प्रशासनिक खर्चों की वजह से गरीबी बरकरार है। स्मार्ट कार्ड इस समस्या का भी समाधान कर सकता है। भ्रष्ट कर्मचारियों और नेताओं को स्मार्ट कार्ड रास नहीं आ रहा है क्योंकि यह उनके भ्रष्टाचार में बाधा बनता है। हालांकि विश्व बैंक के समर्थन की वजह से योजना अस्तित्व में आ पाई है, किंतु भ्रष्ट लोग स्मार्ट कार्ड की राह में भी उसी तरह कांटे बिछाने का प्रयास करेंगे जैसे उन्होंने मोबाइल फोन के मामले में किया था। लेकिन प्रौद्योगिकी की अपनी गति होती है और वह इसी गति से आगे बढ़ती है।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

सामयिक

पुस्तकालयों को भी थामेगा बाजार!

किराये पर पुस्तकें देने वाली लाइब्रेरी को लेकर मेरा सबसे पुराना अनुभव उस समय का है जब मैं नौ साल का था। उस वक्त हम शिमला में रहते थे। मैंने वहीं एक ऐसी लाइब्रेरी ढूंढ निकाली थी जो किराये पर किताबें देती थी। मुझे पता था कि मेरी मां फैंटम कॉमिक्स नहीं लेने देंगी। इसलिए मैंने एनिड ब्लायटन की एक किताब उठा ली। घर पहुंचने पर मेरे चाचा भड़कते हुए मां से बोले, 'आप इसे ऐसी कूड़ा किताब पढ़ने की अनुमति कैसे दे सकती हैं?'

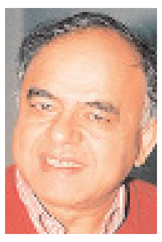

गुरचरण दास

यह तो अच्छा हुआ कि मेरी मां ने उस पर ध्यान नहीं दिया। ब्लायटन भले ही शेक्सपियर न हो, लेकिन उन्होंने जिंदगी भर के लिए मुझे किताब पढ़ने का आदी बना दिया। हमारे परिवार के लोग आज जब भी मिलते हैं तो हम यह नहीं पूछते कि आजकल क्या चल रहा है। इसकी बजाय पूछा जाता है, आजकल क्या पढ़ रहे हो?

जैसे एक अच्छे शहर के लिए कम से कम एक सार्वजनिक उद्यान के साथ-साथ प्रत्येक कॉलोनी में छोटे-छोटे बगीचे होने चाहिए, उसी तरह एक बड़े सार्वजनिक पुस्तकालय के साथ-साथ आस-पड़ोस में छोटे-छोटे वाचनालय भी होने चाहिए। बेहतर रहेगा यदि सार्वजनिक पुस्तकालय सभी के लिए पूर्णतः निशुल्क रहें। उनका प्रबंधन नगर पालिकाएं या नगर परिषदें करें। लेकिन भारत में यह दूर की कौड़ी नजर आती है। जब स्कूल और अस्पताल जैसी आधारभूत सुविधाएं ही सरकारें सही ढंग से मुहैया नहीं करवा पाती हैं तो पुस्तकालय के बारे में तो हमें सोचना भी नहीं चाहिए। तो ऐसे में हम लोगों को क्या करना चाहिए? हम हाथ पर हाथ धरकर नहीं बैठे रह सकते। हमें पुस्तकालय के लिए भी बाजार का इस्तेमाल करना चाहिए जो आज भारतीय मध्यम वर्ग के लिए रूमानियत का प्रतीक बन चुका है। आखिर जब सरकारी स्कूल फेल हो गए तो हमने प्राइवेट स्कूल शुरू कर दिए, जब सरकारी अस्पताल नाकारा साबित हुए तो हमने प्राइवेट अस्पतालों को बढ़ावा देना शुरू किया। यही फंडा पुस्तकालयों पर आजमाना चाहिए।

> भारत में सभी के लिए नि :शुल्क सार्वजनिक पुस्तकालय दूर की कौड़ी नजर आते हैं।
>
> **जब सरकारें आधारभूत सुविधाएं ही सही ढंग से मुहैया नहीं करवा पाती हैं तो पुस्तकालय के बारे में तो हमें सोचना भी नहीं चाहिए।**
>
> **लेकिन हम खुद तो हाथ पर हाथ धरकर नहीं बैठे रह सकते। हमें पुस्तकालय के लिए भी बाजार का इस्तेमाल करना चाहिए जो आज भारतीय मध्यम वर्ग के लिए रूमानियत का प्रतीक बन चुका है।**

आमतौर पर किराये की लाइब्रेरी किताब की कीमत का दस फीसदी शुल्क लेती है। एक पढ़ने वाले व्यक्ति के लिए यह महंगा सौदा नहीं होना चाहिए। चेन्नई में ऐसी 129 लाइब्रेरी हैं, लेकिन एलूर (केरल) का कोई सानी नहीं है। यहां के डिजिटल कैटलॉग में करीब 80 हजार वॉल्यूम हैं जो कंप्यूटर में एक क्लिक पर उपलब्ध हो जाते हैं। केरल के लिए इसका विशेष महत्व है। यह राज्य रीडिंग रूम आंदोलन का जनक रहा है जो वहां 1880 के दशक में उभरा था। उस समय ग्रामीण लोग अखबार नहीं खरीद पाते थे। इसलिए उन्होंने अखबार अपने पड़ोसियों के साथ बांटने या खबरों को जोर-जोर से पढ़ने का सिलसिला शुरू किया। इस प्रकार रीडिंग रूम आंदोलन के बीज पड़े। ईएमएस नंबूदरीपाद ने इस बात का वर्णन किया है कि कैसे इस आंदोलन ने लोगों को राजनीतिक रूप से जागृत करने में भूमिका निभाई। इसी से त्रावणकोर, कोच्ची व मलाबार जैसी रियासतों का उन्मूलन हुआ और एकीकृत केरल के गठन में मदद मिली। वर्ष 1947 तक तो केरल के गांव-गांव में रीडिंग रूम बन चुके थे और कम्युनिस्टों ने वहीं से अपने कैडरों की भर्ती करनी शुरू की। कुछ साल पहले मुझे केरल में एर्णाकुलम जिले के ऐसे ही एक गांव वलयनचिरंगारा जाने का अवसर मिला था। गांव के रीडिंग रूम में 20 हजार से भी अधिक किताबें थीं और 20 पत्रिकाएं व 8 दैनिक अखबार आते थे। इसके एक हजार सदस्यों में से एक तिहाई सदस्य महिलाएं और इतने ही सदस्य बच्चे थे।

हमारे देश के बड़े शहरों में कई विशालकाय सार्वजनिक पुस्तकालय हैं, जैसे कोलकाता में नेशनल लाइब्रेरी, मुंबई में रॉयल एशियाटिक और चेन्नई में कन्नेमारा लाइब्रेरी। लेकिन इन सभी लाइब्रेरी का उपयोग विद्वजन ही अधिक करते हैं। भारत में हाल ही में लाइब्रेरी की स्थापना का सबसे प्रेरणाजनक प्रयास डेलनेट ने किया है। डॉ. एचके कौल के मस्तिष्क की उपज डेलनेट ने देश के 1,350 पुस्तकालयों को इलेक्ट्रॉनिक ढंग से संबद्ध कर रखा है।

मोहल्ला वाचनालय सामाजिक मेल-जोल में वैसी ही भूमिका निभाते हैं, जैसी कॉलोनियों के बगीचे व चाय-पान की दुकानें। सवाल यह है कि आज के समाज में किराये पर पुस्तकें देने वाले पुस्तकालय कितने प्रासंगिक होंगे? मेरा मानना है कि टीवी और ऑनलाइन लाइब्रेरियों के बावजूद लोग स्वांतः सुखाय के लिए किताबें पढ़ते रहेंगे।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

परिपक्व रवैया ही हमें महान राष्ट्र के पथ पर आगे बढ़ाएगा

आतंकवाद के खिलाफ बातें कम काम ज्यादा

सामयिक

हाल के मुंबई हमलों में कुछ इजरायली भी मारे गए थे। इसलिए इजरायल ने एक बार फिर अपनी आतंकरोधी क्षमता का इस्तेमाल करने का प्रस्ताव भारत के समक्ष रखा है। दरअसल, आतंकवाद का प्रभावी जवाब आतंकवाद ही हो सकता है।

गुरचरन दास

मुंबई में आतंकियों के हमलों ने हमारे खुले समाज और हमारी जीवन शैली को कड़ी चुनौती दी है। आतंकी अपने मकसद में कामयाब होंगे या नहीं, यह हमारी प्रतिक्रिया पर भी निर्भर करेगा। यदि हम अमेरिकियों की तरह प्रतिक्रिया जताते हैं तो आतंकियों की जीत होगी। यदि हम जार्ज बुश की तरह सैन्य तरीकों से जवाब देते हैं तो भी निश्चित रूप से आतंकी ही जीतेंगे। यदि हम सार्वजनिक जीवन में बहुत अधिक सुरक्षा प्रबंध करते हैं तो इससे लोगों की असुविधा बढ़ेगी और जीत आतंकियों की ही होगी।

तो हमें क्या करना चाहिए? हमें गोपनीय रूप से इजरायली खुफिया एजेंसी मोसाद के साथ तालमेल करके आतंकरोधी क्षमताओं का विकास करना चाहिए। मोसाद के साथ संयुक्त ऑपरेशन के तहत हमारे खुफिया एजेंटों को पाकिस्तान में घुसकर लश्कर-ए-तैयबा के प्रमुख नेताओं को मार गिराना चाहिए। हाल के मुंबई हमलों में कुछ इजरायली भी मारे गए थे। इसलिए इजरायल ने एक बार फिर अपनी आतंकरोधी क्षमता का इस्तेमाल करने का प्रस्ताव भारत के समक्ष रखा है। दरअसल, आतंकवाद का प्रभावी जवाब आतंकवाद (काउंटर टेररिजम) ही हो सकता है। इस मोर्चे पर केवल काम होना चाहिए, बातें नहीं। सार्वजनिक तौर पर हमें पाकिस्तान पर कूटनीतिक दबाव बनाना चाहिए। अमेरिका को यह समझाने का प्रयास करना चाहिए कि वह पाकिस्तान को केवल इसी शर्त पर आर्थिक सहायता मुहैया करवाए कि वह लश्कर-ए-तैयबा जैसे आतंकी संगठनों के खिलाफ ठोस कार्रवाई करेगा, लेकिन कार्रवाई इतनी लचर भी नहीं होनी चाहिए, जितनी मुशर्रफ के शासनकाल में की गई थी।

इस बीच अब एक नई फेडरल जांच एजेंसी गठित करने पर भी विचार किया जा रहा है, लेकिन मुझे नहीं लगता कि इससे कोई विशेष फर्क पड़ेगा। इस बात की क्या गारंटी होगी कि यह एक और अप्रभावी सरकारी एजेंसी ही साबित नहीं होगी? दरअसल, आतंकवाद के खिलाफ मूलभूत रूप से पुलिस तंत्र को ही मजबूत बनाना होगा। इसलिए सबसे अधिक जरूरत तो पुलिस सुधारों की है जिनकी सिफारिशें कई समितियां कर चुकी हैं। आज एक सामान्य पुलिसवाले की छवि भ्रष्ट व तोंदू व्यक्ति की बन चुकी है, लेकिन इससे उन गिने-चुने ईमानदार पुलिसकर्मियों का मनोबल टूटता है, जो मेहनत से अपनी ड्यूटी निभाते हैं। पुलिस को आधुनिक हथियारों से लैस करने पर भी काफी चर्चा हो चुकी है। कहा जाता है कि मुंबई के रेलवे स्टेशन पर तैनात पुलिस कर्मियों के पास केवल लाठियां ही थीं और उन्हें उन्हीं के बल पर अत्याधुनिक हथियारों से लैस आतंकियों का सामना करना पड़ा। लेकिन मैं हर जगह तैनात पुलिस कर्मियों को हथियारों से लैस करने के पक्ष में नहीं हूं। आखिर हमारा समाज एक शांतिप्रिय व खुला समाज है। केवल उन्हीं पुलिस कर्मियों को हथियार दिए जाने चाहिए जो विशेष अभियानों में जुड़े रहते हैं। हथियारों से सुसज्जित पुलिस अमेरिका में दिखाई पड़ती है। मैं ब्रिटिश मॉडल में विश्वास करता हूं जहां की पुलिस के हाथों में हथियार नहीं रहते हैं। ब्रिटेन ने इस पुलिस के बल पर ही वर्षों आइरिश आतंकवाद का सामना किया है। शायद यही वजह है कि ब्रिटेन समाज सभ्य व विनम्र समाज के मूल्यों को बरकरार रखने में सफल रहा है।

हमारे देश के लोग इस बात के लिए तारीफ के हकदार हैं कि मुंबई हमलों के बाद भावावेश में भी किसी ने मुस्लिमों पर हमला करने का आह्वान नहीं किया। देश के मुस्लिम समुदाय ने भी एक स्वर में इन हमलों की कड़ी भर्त्सना की है। मुंबई की मुस्लिम काउंसिल ने तो मारे गए आतंकियों को दफनाने के लिए जमीन देने तक से इनकार कर दिया। मुंबई के लोग जल्दी ही काम पर लौट आए, शेयर बाजार भी हमलों के तत्काल बाद ऊपर चढ़ा। हमने इस बार भी वैसे ही परिपक्व रवैये का परिचय दिया, जैसा प्रथम आतंकी हमले (1948 में महात्मा गांधी की हत्या) के समय दिया था। हमने शांतिपूर्ण जीवन शैली में विश्वास जताया है और क्षुद्र मानसिकता वाले लोगों द्वारा फैलाए जा रहे आतंकवाद की निंदा की है। यही वह रवैया है जो हमें एक महान राष्ट्र के पथ पर आगे बढ़ाएगा।

■ **लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।**

सामयिक

हिंदी और अंग्रेजी बनें संगिनी

जब भी नया साल आता है, मेरा ध्यान अतीत की ओर चला जाता है। करीब 25 साल पहले मेरे दिल्ली स्थित घर पर धर्मयुग और इलस्ट्रेटेड वीकली दोनों पत्रिकाएं आती थीं। उत्तर भारत के अधिकांश उच्च मध्यम वर्गीय परिवारों में यही स्थिति थी। आज मुझे नहीं लगता कि इन घरों में वह स्थिति बरकरार होगी। भारत के उच्चवर्ग की नई पीढ़ी अब द्विभाषी नहीं रह गई है।

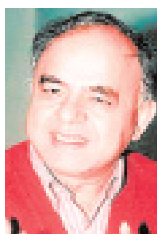

गुरचरन दास

अब तो हालात यह है कि उत्तर भारत के अंग्रेजी भाषी उच्चवर्गीय लोग आपस में अंग्रेजी का इस्तेमाल करते हैं। हिंदी में वे केवल अपने नौकरों या दुकानदारों से ही बात करते हैं। हिंदी भाषी उच्चवर्गीय लोग हालांकि बोलचाल में अंग्रेजी शब्दों का काफी अधिक प्रयोग करते हैं, लेकिन पढ़ने के मामले में अंग्रेजी अखबार या किताबों में उन्हें दिक्कत होती है। इसलिए उत्तर भारत में शायद ही कोई दोनों ही भाषाओं में पुस्तकें या अखबार पढ़ता होगा।

इसकी वजह यह है कि हम स्कूलों में भाषा उतने सहज रूप से नहीं सीखते, जितने सहज ढंग से हम अपनी मातृभाषा सीखते हैं। हम उसे तोते की तरह रटकर सीखते हैं। हिंदी के मामले में भी स्थिति इसलिए खराब है क्योंकि हमें स्कूलों या कॉलेजों में वह भाषा नहीं सिखाई जाती जिसका इस्तेमाल हम सड़कों पर करते हैं। यह शुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिंदी होती है जो न तो बाजार में उपयोगी होती है और न ही नौकरी पाने में। इसलिए अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों में पढ़ने वाले बॉलीवुड स्टाइल की हिंदुस्तानी सीखने को ही तरजीह देते हैं और लिखने वाली हिंदी से बचते हैं। बोलने व लिखने के बीच इतना पृथक्कीकरण बंगाली, मराठी, तमिल और मलयालम भाषाओं में नहीं मिलेगा।

उधर, हिंदी माध्यम के स्कूलों में अंग्रेजी में इसलिए दिलचस्पी नहीं ली जाती क्योंकि उसे पढ़ाने का अंदाज ही गलत होता है। बच्चे उसे कड़वी दवाई की तरह ग्रहण करते हैं। यहां तक कि इन स्कूलों में खुद अंग्रेजी के शिक्षक भी अंग्रेजी में इतने सहज महसूस नहीं करते। इसलिए करोड़ों बच्चे केवल रटते हुए ही अंग्रेजी के शब्द सीख पाते हैं और यही वजह है कि वे कभी भी अंग्रेजी में धाराप्रवाह नहीं हो पाते। अंग्रेजी पढ़ते समय उन्हें दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। इसका नतीजा यही निकलता है कि अंग्रेजी और हिंदी दोनों ही भाषा-भाषी लोग द्विभाषाई काबिलियत खोते जा रहे हैं।

> अंग्रेजी सीखने व स्वीकारने में भारतीय आज कहीं अधिक सहज महसूस करते हैं क्योंकि उन्हें अंग्रेजी भारतीय भाषा की तरह ही लगती है।
>
> **यदि हम स्कूलों में भाषा पढ़ाने के तरीकों में सुधार कर लें तो भारतीयों को आसानी से द्विभाषी बनाया जा सकता है।**
>
> **अगर हम अपने बच्चों को द्विभाषी बनाना चाहते हैं तो हिंदी राष्ट्रवादियों को अपनी भाषा अधिक आकर्षक व युवा पीढ़ी के लिए उपयोगी बनाने के वास्ते कड़ी मेहनत करनी होगी।**

हम मातृभाषा इसलिए सीखते हैं ताकि अपने माता-पिता से संवाद कर सके। भारत में हम अंग्रेजी बेहतर नौकरी पाने की लालसा में सीखते हैं। बगैर अंग्रेजी के एक भारतीय को शायद ही कोई अच्छी नौकरी मिल पाए, जबकि चीन, रूस और जापान में ऐसा संभव है। लेकिन भारतीयों को इसका एक अतिरिक्त फायदा भी मिलता है और वैश्विक अर्थव्यवस्था में वे लाभ की स्थिति में होते हैं। अंग्रेजी भाषा के मनीषी प्रो. डेविड क्रिस्टल के अनुसार इन दिनों दुनिया के एक चौथाई लोग अंग्रेजी का इस्तेमाल करते हैं और यह संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। उनका आंकलन है कि वर्ष 2010 तक भारत में अंग्रेजी भाषियों की संख्या दुनिया में सबसे ज्यादा हो जाएगी, अमेरिका से भी ज्यादा।

अंग्रेजी सीखने व स्वीकारने में भारतीय आज कहीं अधिक सहज महसूस करते हैं क्योंकि उन्हें अंग्रेजी भारतीय भाषा की तरह ही लगती है। 'हिंग्लिश' उनके दैनिक जीवन में कहीं अधिक तेजी से पैर पसारती जा रही है। अगर हम स्कूलों में भाषा पढ़ाने के तरीकों में सुधार कर लें तो उन्हें आसानी से द्विभाषी बनाया जा सकता है। अब ऐसे भारतीयों की संख्या बढ़ती जा रही है जो अपनी मातृभाषा से भी कहीं अधिक अंग्रेजी में सहज व आरामदायक महसूस करते हैं। यदि हम अपने बच्चों को द्विभाषी बनाना चाहते हैं तो क्षेत्रीय भाषाई समर्थकों, खासकर हिंदी राष्ट्रवादियों को अपनी भाषा अधिक आकर्षक व आज की युवा पीढ़ी के लिए उपयोगी बनाने के वास्ते कड़ी मेहनत करनी होगी।

मेरे लिए आदर्श स्थिति वह होगी जब देश का हर व्यक्ति द्विभाषी होगा। मैं पंजाब से हूं और पंजाबी मेरी मातृभाषा है। मैं अपनी कुछ विशेष भावनाएं केवल पंजाबी में ही व्यक्त कर सकता हूं, अंग्रेजी में नहीं। लेकिन शेष भारत और दुनिया के अन्य देशों के लिए अंग्रेजी मेरे लिए पासपोर्ट का काम करती है। मेरा मानना है कि यदि इस दुनिया में अपनी जड़ें जमानी हैं तो हर भारतीय को अंग्रेजी सीखनी होगी।

■ **लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।**

सामयिक

धोखेबाज दंडित हों सिस्टम नहीं

सत्यम हाल तक भारत की प्रतिष्ठित आईटी कंपनियों में शुमार थी। इसके ग्राहक संतुष्ट थे। उसे अपने शेयरधारकों का पूरा विश्वास हासिल था। इसके कर्मचारी खुद को सत्यम का बताते हुए गर्व महसूस करते थे। इसके बोर्ड में ऐसे निदेशक थे जिनकी विश्वसनीयता संदेह से परे हुआ करती थी। इसका ऑडिट दुनिया की चार प्रमुख कंपनियों में से एक किया करती थी। इसने देश में सर्वश्रेष्ठ कारपोरेट प्रशासन के लिए दो बार पुरस्कार भी जीता। इसके बावजूद इसके संस्थापक बी. रामालिंगा राजू भारतीय कारपोरेट इतिहास की सबसे बड़ी धोखाधड़ी करने में सफल रहे। करीब सात हजार करोड़ रुपए की यह धोखाधड़ी सात साल से चली आ रही थी। परिणामस्वरूप इसके देशी-विदेशी निवेशकों को शेयरों के रूप में 20 हजार करोड़ रुपए से भी अधिक की चपत लग चुकी है। कंपनी के 53 हजार कर्मचारियों का भविष्य भी अधर में लटक गया है।

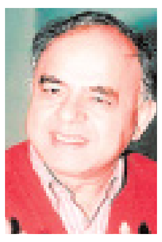

गुरचरन दास

इतनी बड़ी घटना पर हाय-तौबा तो मचनी ही थी, लेकिन मुझे आश्चर्य देश के कई समझदार लोगों की उन बातों पर हो रहा है जिनमें वे इसे नियामक तंत्र की असफलता मान रहे हैं। कुछ अन्य विद्वान इससे भारतीय आईटी क्षेत्र की प्रतिष्ठा को पहुंचे नुकसान की बात कर रहे हैं। कई लोग भारतीय अर्थव्यवस्था के भविष्य को लेकर चिंतित हैं तो कुछ वामपंथियों ने इसे पूंजीवाद की विफलता ही करार दिया है और कंपनियों पर अधिक नियंत्रण लगाने की पैरवी करने लगे हैं।

सच तो यह है कि हर समाज में धूर्त किस्म के लोग होते हैं। अमेरिका और जर्मनी में भी हाल ही में इस प्रकार के स्कैंडल हो चुके हैं। ऐसे धूर्तों या धोखेबाजों को सजा दिलाना ही ऐसे स्कैंडलों का सही जवाब हो सकता है, न कि व्यवस्था में बदलाव। धोखेबाजों को सजा देना कहीं अधिक कारगर साबित होगा। सरकारी नियंत्रण बढ़ाने से तो कारपारेट क्षेत्र में काम करने वाले लाखों ईमानदार लोगों के सामने दिक्कतें बढ़ जाएंगी। सत्यम का यह प्रकरण कुप्रशासन नहीं, बल्कि धोखाधड़ी का उदाहरण है।

हर समाज में धूर्त किस्म के लोग होते हैं। ऐसे धूर्तों या धोखेबाजों को सजा दिलाना ही स्कैंडलों का सही जवाब हो सकता है, न कि व्यवस्था में बदलाव।

किसी कंपनी की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए बेईमानी के प्रति शून्य सहिष्णुता की नीति ही एकमात्र रास्ता है।

हमें कंपनी के साथ अपराधी जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। यह अब भी श्रेष्ठ कर्मचारियों वाली एक शानदार कंपनी है। इसे हम मरने नहीं दे सकते।

पूंजीवाद अच्छी कंपनियों पर निर्भर करता है। जनता जिम्मेदारी और पारदर्शिता के उच्च मानदंडों वाली इन कंपनियों में निवेश करने को इच्छुक रहती है। कंपनियों की ऑडिटिंग से लोगों के विश्वास को अतिरिक्त बल मिलता है। सत्यम के मामले में धोखाधड़ी को पहचानने में एकाउंटेंट्स, आडिटर्स और स्वतंत्र निदेशक सभी विफल रहे। यह तो तय है कि कुछ एकाउंटेंट्स को यह पता होगा कि दाल में कहीं न कहीं तो काला है। समस्या व्यवस्था की नहीं, लापरवाही की थी। इसलिए इस मामले का ठीकरा कारपोरेट प्रशासन पर नहीं फोड़ा जाना ही बेहतर रहेगा। समस्या केवल एक कंपनी विशेष की है जिसका प्रमुख ही सबसे बड़ा धोखेबाज निकला। उसने अपने कर्मचारियों, ऑडिटर्स और बोर्ड के साथ छल किया।

भारतीय कंपनियों को इस बात से भयभीत नहीं होना चाहिए कि इस घोटाले से पूरा भारतीय कारपोरेट जगत ही दागदार हो गया है। आईटी क्षेत्र की बदौलत ही संसार भर में देश को प्रतिष्ठा मिली है और यह क्षेत्र गुणवत्ता व प्रतिस्पर्धा के आधार पर ही अपनी धाक जमाए हुए है। समझदार विदेशी ग्राहक इस बात को समझते हैं कि प्रत्येक समाज में कुछ शरारती किस्म के लोग होते हैं और इसीलिए वे सभी कंपनियों को एक ही तराजू में नहीं तौलेंगे। तो नियामक बदलावों व पूंजीवाद के भविष्य को लेकर चिंता जताने के बजाय सरकार और कानून संबंधी एजेंसियों को जितनी जल्दी हो सके, दोषियों को सजा दिलानी चाहिए। इससे विदेशी निवेशकों की नजरों में ब्रांड इंडिया की छवि और भी निखरेगी। सत्यम प्रकरण से भारतीय कंपनियों के लिए सबसे बड़ा सबक यही है कि किसी भी कंपनी के लिए नैतिक पहलू सबसे अहम होने चाहिए। किसी कंपनी की प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए बेईमानी के प्रति 'जीरो टॉलरेंस' (शून्य सहिष्णुता) की नीति ही एकमात्र रास्ता है।

यहां यह भी जरूरी है कि सत्यम कंपनी और उसके संस्थापक रामालिंगा के बीच अंतर किया जाए। हमें कंपनी के साथ अपराधी जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिए। यह अब भी श्रेष्ठ कर्मचारियों वाली एक शानदार कंपनी है। इसे हम मरने नहीं दे सकते। सरकार को उसे बचाने के लिए आगे आना ही होगा।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

सामयिक

काश! धृतराष्ट्र न बनते राजू

सत्यम के रामालिंगा राजू के काले कारनामों की काफी चर्चा हो चुकी है। हालांकि सत्यम को लेकर अभी भी कई पहलू सामने आ रहे हैं, लेकिन उस व्यक्ति के दुख और ट्रेजेडी को लेकर भी संकेत मिल रहे हैं जिसने भारतीय कॉरपोरेट इतिहास के सबसे बड़े घोटाले को अंजाम दिया है। करीब 7,136 करोड़ रुपए की यह धोखाधड़ी सात साल से जारी थी। इसके परिणामस्वरूप भारतीय और विदेशी दोनों निवेशकों को शेयरों के रूप में 23 हजार करोड़ रुपए मूल्य की भारी-भरकम चपत लगी। 40 हजार से भी अधिक कर्मचारियों का भविष्य भी अधर में लटक गया है।

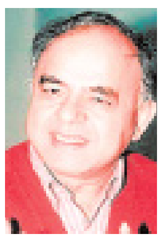

गुरचरन दास

राजू ने अपने कौशल, प्रतिभा और समर्पण के बलबूते इतनी बड़ी कंपनी बनाई। दस साल पहले मुझे उनकी आंखों में गंभीरता, सक्षमता और एक महान उद्देश्य की झलक दिखाई दी थी। तब मुझे महत्वाकांक्षा नजर आई थी, लालच नहीं। इसके कुछ ही दिनों बाद अमेरिका में मेरी मुलाकात सत्यम के एक ग्राहक से हुई थी। उसने गुणवत्ता, विश्वसनीयता और ईमानदारी के प्रति सत्यम की प्रतिबद्धता का खूब बखान किया। एक कंपनी के लिए अपने संतुष्ट ग्राहक की प्रशंसा से बढ़कर और कोई ईनाम नहीं हो सकता। इसी से मुझे लगता है कि आखिर भारत दुनिया की दूसरी सबसे तेजी से बढ़ती अर्थव्यवस्था क्यों है।

इतनी अद्भुत उपलब्धियों को हासिल करने के बाद व्यक्ति को अपराध की तरफ क्यों मुड़ जाना चाहिए? क्या यह उनका सिर्फ लालच था या फिर उन्होंने ऐसा इसलिए किया क्योंकि सत्यम में उनकी हिस्सेदारी घटकर 8.6 फीसदी तक रह गई थी और कंपनी के परिवार के नियंत्रण से बाहर होने का खतरा पैदा हो गया था? राजू के दो पुत्र हैं और शायद अपने पुत्रों के प्रति एक पिता के मोह ने उन्हें रियल एस्टेट और ढांचागत विकास के क्षेत्र में और भी कंपनियां निर्मित करने को मजबूर किया। ये दोनों ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें अब भी उदारीकरण आधा-अधूरा ही हो पाया है। इनमें काम निकलवाने के लिए नेता आपसे रिश्वत की खुल्लम-खुल्ला मांग करते हैं। चूंकि नई कंपनियां अभी कमा नहीं रही थीं। इसलिए नेताओं को रिश्वत देने के लिए राजू ने सत्यम के पैसों का ही इस्तेमाल किया। इससे काम बन जाता, लेकिन मंदी और तरलता संकट से स्थिति उलट गई। अंततः उन्होंने सत्यम के चुराए पैसों को वापस कंपनी में लाने के लिए पुत्रों की कंपनियों का विलय करने का विफल प्रयास किया।

राजू ने अपनी प्रतिभा और समर्पण के बलबूते इतनी बड़ी कंपनी बनाई। दस साल पहले उनकी आंखों में मुझे महत्वाकांक्षा नजर आई थी, लालच नहीं।

वे धृतराष्ट्र जैसी कमजोरियों की वजह से ही बर्बाद हुए। हमें अपने बच्चों को पोषित करना चाहिए, लेकिन धर्म की सीमा रेखा को लांघकर नहीं।

राजू पारदर्शी सुधारवादी भारत से ऐसे दलदली सुधारहीन भारत में पहुंच गए, जिसके नियम धूर्त राजनेता तय करते हैं।

जब राजू दिलखुश और खुले व प्रतिस्पर्धी पूंजीवाद की सीमाएं तोड़कर लालची दिमागों से संचालित पूंजीवाद की गिरफ्त में आ गए तो उनका खुद पर से भी नियंत्रण खत्म होने लगा। वे पारदर्शी सुधारवादी भारत से ऐसे दलदली सुधारहीन भारत में पहुंच गए, जिसके नियम धूर्त राजनेता तय करते हैं। आखिर उन्होंने ऐसा क्यों किया? लालच को जिम्मेदार ठहराना बड़ा ही आसान होगा। यह अति-आत्मविश्वास भी हो सकता है, जैसा कि महाभारत के दुर्योधन का था जो सोचता था कि वह कुछ भी कर सकता है। लेकिन मुझे लगता है कि राजू की तुलना दुर्योधन के पिता से करना शायद बेहतर रहेगा। राजू धृतराष्ट्र जैसी कमजोरियों की वजह से ही बर्बाद हुए। हमें अपने बच्चों को पोषित करना चाहिए, लेकिन धर्म की सीमा रेखा को लांघकर नहीं।

सत्यम धोखाधड़ी और अपराध का उदाहरण है। यह कॉरपोरेट प्रशासन की विफलता नहीं है। इस लापरवाही के लिए तो सत्यम के आंतरिक व बाहरी ऑडिटर्स और स्वतंत्र निदेशक जिम्मेदार हैं। सबसे जरूरी तो यही है कि सत्य पर से जल्दी से परदा उठाकर दोषियों को सींखचों के पीछे पहुंचाया जाए। ऐसे धूर्तों को राजनीतिक संरक्षण देने वाले राजनीतिक आकाओं को भी सजा दी जाए। उदारीकरण को दोष नहीं दिया जाना चाहिए। हमारी अर्थव्यवस्था के गैर-उदारवादी क्षेत्रों में नेताओं और उद्योगपतियों के बीच साठगांठ को तोड़ने के लिए तो और भी सुधार जरूरी है। राजू का यह प्रकरण हमें इसलिए बेचैन करता है क्योंकि इससे सफलता की अवधारण को चुनौती मिलती है। महाभारत में युधिष्ठिर ने भी सफलता की क्षत्रिय अवधारणा को चुनौती दी थी। जब उन्होंने स्वर्ग में एक आवारा कुत्ते को ले जाने पर जोर दिया तो वे धर्म का ही पालन कर रहे थे। इस प्रकार उन्होंने दिखाया कि इस दुनिया में हमारी स्वभावगत अच्छाई कितनी कीमती है जो हमारे जीवित रहने और मनुष्य के रूप में पैदा होने के कुछ दर्दों को कम करती है, खाकसर उत्तर-उदारवादी युग में तो यह और भी प्रासंगिक है।

■ **लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।**

सामयिक

भाइयों की महाभारत से चिंतित भारत

जब पिछले हफ्ते बाम्बे हाईकोर्ट ने रिलायंस इंडस्ट्रीज को 4.20 रुपए की दर पर गैस बेचने की अनुमति दे दी तो इंडस्ट्रीज के लाखों शेयरधारकों ने निश्चित रूप से राहत की सांस ली होगी। इसका मतलब यही है कि मुकेश अंबानी अब आंध्र के तटीय इलाके से जुड़े समुद्र में प्राकृतिक गैस की खोज का भरपूर दोहन कर सकते हैं। अदालत की इस अनुमति के बाद उन भारतीयों के चेहरों पर भी मुस्कान देखी जा सकती है जो समझते हैं कि रिलायंस की गैस संबंधी खोज भारतीय ऊर्जा के भावी परिदृश्य के लिए कितनी अहम है।

गुरचरन दास

कोर्ट ने अभी तक अनिल अंबानी की उस दलील पर विचार नहीं किया है कि मुकेश अपने भाई अनिल की कंपनी को 2.34 रुपए प्रति एमएमबीटीयू गैस आपूर्ति करने के समझौते का पालन करें। 4.20 रुपए प्रति एमएमबीटीयू कीमत 28 से 30 रुपए प्रति बैरेल पेट्रोलियम पदार्थ की कीमत के बराबर है, जबकि पेट्रोलियम पदार्थों की मौजूदा कीमत करीब 41 रुपए प्रति बैरेल है। अदालत के फैसले के बाद उम्मीद की जा रही है कि 15 फरवरी से गैस की आपूर्ति शुरू हो जाएगी और कई उवर्रक व बिजली कंपनियां इसका लाभ उठाएंगी। हालांकि अनिल अंबानी के वकील राम जेठमलानी ने कोर्ट के इस फैसले को 25 हजार करोड़ रुपए के घोटाले की पैरवी करने वाला करार दिया है। उन्होंने इस राशि का अनुमान अगले 17 साल के समझौते के दौरान आपूर्ति होने वाली गैस की 4.20 रुपए और 2.34 रुपए कीमत के बीच अंतर निकालकर लगाया है।

लोग एक बार फिर दोनों भाइयों के बीच 'महाभारत' छिड़ने की आशंका से चिंतित हो उठे हैं। भारत के सबसे बड़े व्यावसायिक घराने के दो भाइयों के बीच प्रतिद्वंद्विता पिछले लंबे अर्से से बड़ा प्रहसन बनी हुई है। इन दोनों भाइयों की कंपनियां देश के जीडीपी में तीन फीसदी का सहयोग देती हैं, देश के राजस्व में दस फीसदी की हिस्सेदारी है व निर्यात में 14 फीसदी का योगदान देती हैं। इसलिए देश के लिए इन कंपनियों का भविष्य मायने रखता है। शेयर बाजार के धराशाई होने से पहले अनिल अंबानी फोर्ब्स की अरबपतियों की 2007 की सूची में पांचवें स्थान पर थे। इसके बावजूद वे अपने बड़े भाई मुकेश अंबानी के प्रति दुर्योधन जैसी ईर्ष्या भाव से ग्रस्त रहे हैं। इसी सूची में मुकेश उनसे थोड़ा-सा ऊपर थे। दोनों भाइयों के शकुनी जैसे सलाहकार हैं। उनकी माता कुंती जैसी भूमिका निभाती आई हैं और वे अब तक इस प्रतिद्वंद्विता को नियंत्रण में रखे हुए हैं। हालांकि घृणा ऐसी शक्तिशाली भावना है जो नियंत्रण से बाहर हो सकती है।

> लोग एक बार फिर से अंबानी बंधुओं के बीच 'महाभारत' छिड़ने की आशंका से चिंतित हो उठे हैं।
>
> **इन दोनों भाइयों की कंपनियां देश के जीडीपी में तीन फीसदी का सहयोग देती हैं और इसलिए देश के लिए इन कंपनियों का भविष्य मायने रखता है।**
>
> **अगर दोनों भाइयों के बीच उनकी मां मध्यस्थता नहीं करवाती तो इनकी प्रतिद्वंद्विता से कंपनियों के शेयरधारकों के भविष्य पर भी तलवार लटक जाती।**

आखिर इन दो हाई-प्रोफाइल भाइयों के बीच इस दुश्मनी की वजह क्या है? धर्म कहां विफल हो गया? मुझे लगता है कि यह दुर्योधन जैसी ईर्ष्या है, जो युधिष्ठिर और पांडवों की सफलता को सहन नहीं कर सका। जब 2002 में धीरूभाई अंबानी का निधन हुआ तो उनके 30 लाख से भी अधिक शेयरधारकों ने शोक मनाया था। उनका शोकग्रस्त होना लाजिमी था क्योंकि वे धीरूभाई ही थे जिन्होंने उन्हें संपन्न बनाया था। धीरूभाई अपने पीछे दो बेहद प्रतिभाशाली पुत्र छोड़ गए थे। विरासत की कुंजी उन्होंने अपने बड़े और बेहद विनम्र बेटे मुकेश के हवाले कर दी। मुकेश के विपरीत अनिल ग्लैमरस जीवन जीते आए हैं। चूंकि मुकेश अपने भाई पर विश्वास नहीं करते थे या शायद उनकी ग्लैमरस जिंदगी से उन्हें ईर्ष्या होती थी, इसलिए उन्होंने अनिल को किनारे करना शुरू कर दिया और रिलांयस को अपने नियंत्रण में लाने के प्रयास तेज कर दिए। अनिल ने इसका प्रतिकार किया और अपने भाई पर वार शुरू कर दिए। इस लड़ाई में पहली बार प्रशासनिक विफलता उजागर हुई। रिलायंस के शेयरों की कीमतें गोता लगाने लगीं और उसके शेयरधारक भयभीत नजरों से इस त्रासदी को देखने लगे। अंततः उनकी माता कोकिला ने मध्यस्थता कर इस साम्राज्य का विभाजन करवा दिया।

अनिल अपने भाई के अधिक ताकतवर और प्रतिष्ठा के तथ्य को पचा नहीं पाते हैं। अगर दोनों भाइयों के बीच उनकी मां मध्यस्थता नहीं करवाती तो इनकी प्रतिद्वंद्विता अब तक कुरुक्षेत्र के मैदान में बदल चुकी होती जिससे संपूर्ण साम्राज्य के ध्वस्त होने की आशंका पैदा हो जाती और शेयरधारकों के भविष्य पर भी तलवार लटक जाती। यह ड्रामा खत्म नहीं हुआ है। दोनों के बीच कई मामले अदालतों में हैं।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

सामयिक

कोई सीमा तो हो बेलगाम वेतन की

‘**अच्छा** ... तुम भी उनमें से एक हो!’ मेरे एक मित्र की पुत्री का पिछले दिनों एक व्यक्ति ने ऐसे ही स्वागत किया। उसे लोगों को यह बताने में शर्मिंदगी महसूस हो रही है कि वह एक निवेश बैंकर है। इन दिनों जनता बैंकरों पर ही अपना गुस्सा उतार रही है, जिन्होंने विश्व की अर्थव्यवस्था को घुटनों के बल लाने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

नौकरी से निकाले गए लोगों के घरों की ओर लौटने के दृश्यों को टीवी पर देखना अपने आप में त्रासदीदायक है। अंतरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने चेतावनी दी है कि 2009 में नौकरियों से निकाले जाने वाले लोगों की संख्या पांच करोड़ तक पहुंच सकती है। इसकी एक सहज प्रतिक्रिया तो यह सामने आती है कि यह सब कुछ ‘लालच’ का नतीजा है। इस संकट के बारे में काफी कुछ लिखा जा चुका है, लेकिन इसकी नैतिक विशेषताओं के बारे में नहीं।

गुरचरन दास

कई लोगों की तरह मेरा भी मानना है कि यदि 14 सितंबर को लेहमैन ब्रदर्स को राहत प्रदान कर दी जाती तो इस संकट को नियंत्रित किया जा सकता था। लेहमैन ब्रदर्स के सीईओ डिक फल्ड और वित्त मंत्री व गोल्डमैन सैक्स के पूर्व सीईओ हैंक पॉलसन के बीच पुरानी प्रतिद्वंद्विता इसकी राह में आ गई। यह सच है कि फल्ड ने अक्खड़ व्यवहार किया, लेकिन लेहमैन को बचाने से इनकार करने के मार्ग में पॉलसन का पुराना पूर्वाग्रह भी आड़े आया ही होगा। लेहमैन के ध्वस्त होने से वैश्विक स्तर पर आर्थिक बर्बादी की शुरुआत हुई।

कई बार पूंजीवाद के तार्किक स्वहित अति में बदल जाते हैं। इस नाटक के सारे अभिनेता अपनी-अपनी ओर से तार्किक ढंग से ही बर्ताव कर रहे थे। अमेरिका में ब्याज दरों में कमी से गरीबों ने भी कर्ज पर अपने घर खरीद लिए। इसके लिए बैंकों ने भी बगैर सोचे-समझे लोन देने में कोताही नहीं बरती। लोगों ने घर गिरवी रखकर लोन लिए थे, लेकिन मकानों की कीमतें घटने पर भी यही लोन ‘सब-प्राइम’ बन गए। इस प्रकार यहां स्वहित और स्वार्थ के बीच एक बारीक रेखा है। बराक ओबामा ने बैंकरों को अपने अधिकारियों को 18 अरब डॉलर बोनस के रूप में बांटने पर जमकर लताड़ लगाई। इतना भारी-भरकम बोनस उस समय दिया गया, जब लाखों लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो रहे थे। जिस चतुर्थ तिमाही में मेरिल लिंच 15 अरब डॉलर का नुकसान दर्शा रही थी, उसी तिमाही में उसने चार अरब डॉलर अधिकारियों में बोनस बांट दिया। कंपनी का इसके पीछे तर्क था कि ‘बेहतर लोगों को बनाए रखने के लिए बोनस देना अनिवार्य था।’ किसी ने पूछा, ‘कौन से बेहतर लोग? जिनकी वजह से 15 अरब डॉलर का नुकसान हुआ!’

1980 के दशक में अमेरिका में एक सीईओ कर्मचारियों से 40 गुना वेतन हासिल कर रहा था। आज उनका वेतन करीब 500 गुना अधिक है।

अमेरिकी कांग्रेस ने बैंकों के अधिकारियों का अधिकतम वेतनमान 5 लाख डॉलर तय करने का प्रस्ताव किया है।

निजी कर्मचारियों का वेतन सरकार द्वारा तय किए जाने की पैरवी न करते हुए भी कहना पड़ेगा कि वह तरीका अनुचित है जिसमें वरिष्ठ अधिकारियों को वेतन प्रदान किया जाता है।

उच्च अधिकारियों के वेतन में अंधाधुंध बढ़ोतरी ही समस्या की जड़ है। 1980 के दशक में अमेरिका में एक सीईओ औसत रूप से कर्मचारियों से 40 गुना वेतन हासिल कर रहा था। आज उनका वेतन कर्मचारियों की तुलना में करीब 500 गुना अधिक है। इसी वजह से अमेरिकी कांग्रेस ने उन बैंकों के अधिकारियों का अधिकतम वेतनमान 5 लाख डॉलर तय करने का प्रस्ताव किया, जिन्हें करदाताओं के पैसों से बचाया गया है। मुझे नहीं लगता कि निजी कंपनियों के कर्मचारियों का वेतन सरकार द्वारा तय किया जाना चाहिए, लेकिन फिर भी मैं उस तरीके को लेकर असंतुष्ट हूं जिसमें वरिष्ठ अधिकारियों को वेतन इत्यादि प्रदान किया जाता है।

महाभारत में जब कौरव चौसर के खेल में पांडवों को हराकर उनका राजपाट छीन लेते हैं तो द्रौपदी चाहती है कि उसके पति बल से राज वापस हासिल कर लें, लेकिन युधिष्ठिर कहते हैं कि वे वचन दे चुके हैं। तब द्रौपदी पूछती है, ‘अच्छा बनने का क्या मतलब?’ युधिष्ठिर का जवाब होता है, ‘मैं अपने वचन पर इसलिए कायम रहूंगा क्योंकि मुझे ऐसा ही करना चाहिए।’ पूंजीवाद के इस संकट में हमारे निवेश बैंकर्स को भी इस जवाब पर विचार करना चाहिए।

मुक्त व्यापार और नियंत्रित व्यवस्था में से एक के चुनाव का कोई औचित्य नहीं है। नियंत्रण और बाजार का सही मिश्रण ही मौजूदा समस्या का सही जवाब हो सकता है। उत्पादन पर कोई भी सरकारी नियंत्रण नहीं चाहेगा क्योंकि इससे प्रतिस्पर्धा के अभाव में और भी क्षय होगा। अधिक चाहत मानव की प्रकृति है, लेकिन हर किसी को सब कुछ हासिल नहीं हो सकता। इसलिए ऐसी व्यवस्था की दरकार है जिसमें वेतन इत्यादि लाभों का वितरण धर्म के अनुसार हो।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

क्योंकि लोकतंत्र के अपने मायने हैं

मध्यावधि के हिसाब से तो चीन समृद्धि के मामले में भारत से दौड़ में जीतता नजर आ रहा है। यह भारत से पहले ही 15-20 साल आगे है। लेकिन दीर्घावधि के नजरिए से देखें तो जो बात भारत के पक्ष में जाती है, वह है उसका लोकतांत्रिक होना।

सामयिक

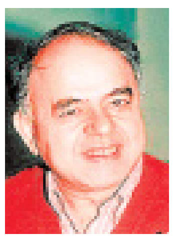

गुरचरन दास

मौजूदा वैश्विक संकट के चलते भारत और चीन को काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है। चीनी सरकार ने हाल ही में बताया है कि सितंबर 2008 से दो करोड़ लोगों की नौकरियां जा चुकी हैं। हालांकि विशेषज्ञों का अनुमान है कि करीब तीन करोड़ लोग मौजूदा आर्थिक संकट के चलते बेरोजगार हो चुके हैं। भारत में श्रम को लेकर बहुत साफ आंकड़े नहीं हैं। इसलिए हमारे पास ऐसी कोई पुख्ता जानकारी नहीं है कि वास्तव में कितने लोगों की नौकरियों पर तलवार चली है, लेकिन यह तो तय है कि चीन की तुलना में यहां काफी कम लोगों की नौकरियां गई हैं। शायद कुछ लाख नौकरियां।

श्रम ब्यूरो के एक सर्वे के अनुसार इसी अवधि में भारत में करीब पांच लोगों की नौकरियों पर आंच आई है। यदि इस आंकड़े को दस गुना कर दिया जाए तब भी करीब 50 लाख लोगों को ही नौकरियां गंवानी पड़ी होंगी। चीन पर मौजूदा संकट का अधिक प्रभाव पड़ने की वजह भी है। चीनी अर्थव्यवस्था वैश्विक अर्थव्यवस्था से काफी हद तक जुड़ी हुई है। इसलिए मौजूदा संकट से चीनी निर्यात और अर्थव्यवस्था पर बहुत ज्यादा असर पड़ना लाजिमी है। चूंकि वैश्विक संकट से भारत काफी हद तक बच गया, इसलिए कई भारतीय इस बात के लिए एक दूसरे को बधाई दे सकते हैं कि अच्छा हुआ, भारत ने अर्थव्यवस्था का उतना वैश्वीकरण नहीं किया, जितना कि चीन ने किया। लेकिन वे गलत हैं। यदि बीते 18 सालों में हमने और अधिक सुधारों पर अमल किया होता तो हमारी अर्थव्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक तेजी से आगे बढ़ती, शायद दो फीसदी और अधिक तेजी से। इसका मतलब होता कि हम और दस करोड़ लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर उठा पाने में सफल होते। वर्तमान संकट की वजह से इनमें से दो से तीन करोड़ लोग फिर से गरीबी रेखा के नीचे आ जाते, लेकिन कम से कम सात करोड़ लोग तो आज से बेहतर जीवन जी रहे होते।

हमें किस तरह के सुधार करने चाहिए थे? उदाहरण के लिए यदि हम हमारे श्रम कानूनों में सुधार कर पाते तो कर्मचारी बेहतर हालात में होते। यदि एक नियोक्ता को यह अधिकार मिल जाए कि वह अर्थव्यवस्था में गिरावट के दौर में छंटनी कर सकता है (वैसे ही जैसे इंग्लैंड और अमेरिका में हैं) तो उसे स्थाई कर्मचारी रखने में कोई दिक्कत नहीं होती, जिन्हें मेडिकल और पेंशन जैसी कई सुविधाएं मिलती हैं। लेकिन चूंकि हमारे श्रम कानून जड़वत हैं और वे कर्मचारियों की छंटनी करने की अनुमति नहीं देते हैं। ऐसे में नियोक्ता भी अस्थाई कर्मचारियों की भर्ती करने में ही रुचि दिखाते हैं। इसका खामियाजा अंततः कर्मचारियों को ही उठाना पड़ता है।

> 13 अप्रैल 1919 के जलियांवाला बाग हत्याकांड ने भारतीयों को एहसास करवाया कि वे आजाद नहीं हैं। इसी के परिणामस्वरूप महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता आंदोलन शुरू किया और देश ब्रिटिश राज से आजाद हुआ।

> **1989 का थ्यानमैन चौक हत्याकांड चीन का जलियांवाला बाग कांड था जब लोकतंत्र समर्थक छात्रों ने प्रदर्शन किया था। ये छात्र अपनी ही कम्युनिस्ट सरकार का विरोध कर देश में लोकतांत्रिक अधिकारों की मांग कर रहे थे।**

चीन पर निगाह रखने वाले कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि मौजूदा स्थिति में चीन में इतनी अशांति फैल जाएगी कि इससे वहां की राजनीतिक व्यवस्था को ही खतरा पैदा हो जाएगा। मुझे नहीं लगता कि ऐसा होगा। कुछ सालों में जब अर्थव्यवस्था फिर से पटरी पर लौट आएगी तो चीन पुनः विश्व की सबसे तेज गति से बढ़ती अर्थव्यवस्था का दर्जा हासिल कर लेगा। चीन के सुधारों ने उसे स्थाई तौर पर मजबूत और प्रतिस्पर्धी बना दिया है। इसलिए जब वैश्विक मांग सामान्य हो जाएगी तो चीन फिर से ऊपर उठने लगेगा।

मध्यावधि के हिसाब से तो चीन समृद्धि के मामले में भारत से दौड़ में जीतता नजर आ रहा है। यह भारत से पहले ही 15-20 साल आगे है। लेकिन दीर्घावधि के नजरिए से देखें तो जो बात भारत के पक्ष में जाती है, वह है उसका लोकतांत्रिक होना। चूंकि हम 60 सालों से एक लोकतांत्रिक देश में रह रहे हैं। इसलिए इसके महत्व के बारे में हमने कभी ध्यान नहीं दिया। आजादी हवा की तरह होती है। इसकी महत्ता के बारे में तभी पता चल पाता है जब यह नहीं होती। हमारे पुरखे जिस आजादी के लिए तरसते रहे, हम उसकी उपेक्षा करते हैं। 13 अप्रैल 1919 के जलियांवाला बाग हत्याकांड ने भारतीयों को एहसास करवाया कि वे आजाद नहीं हैं। इसी के परिणामस्वरूप महात्मा गांधी ने स्वतंत्रता आंदोलन शुरू किया। उन्होंने करोड़ों लोगों को महसूस करवाया कि वे तब तक गरिमामय जीवन नहीं जी सकते, जब तक ब्रिटिश राज से आजाद नहीं होते।

1989 का थ्यानमैन चौक हत्याकांड चीन का जलियांवाला बाग कांड था जब लोकतंत्र समर्थक छात्रों ने प्रदर्शन किया था। सरकारी आंकड़ों के अनुसार इसमें 200 से 300 छात्रों की मौत हुई थी, लेकिन रेड क्रॉस के अनुसार यह संख्या 2000 से 3000 के बीच थी। ये छात्र अपनी ही कम्युनिस्ट सरकार का विरोध कर देश में लोकतांत्रिक अधिकारों की मांग कर रहे थे। इस हत्याकांड ने न केवल चीनी जनता को जाग्रत किया, बल्कि दुनिया को भी इस बात से अवगत करवाया कि चीन के लोग आजाद नहीं हैं। चीनी सरकार का दावा है कि उसने करोड़ों लोगों को गरीबी से मुक्त करवाया है, लेकिन वहां के गरीब भी अब विचारों की, बोलने की और धार्मिक आजादी चाहते हैं।

■ **लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।**

सामयिक

छोटे मसलों से बनती सरकारें

क्या भारतीय मतदाता सरकार बदलने का फैसला बड़े मुद्दों के आधार पर करता है? जी नहीं। उसका उनसे कोई लेना-देना नहीं होता। वह सड़क, पानी, सामान्य प्रशासन जैसी उन बातों के आधार पर सत्ता बदलता है जो उसके दैनिक जीवन को प्रभावित करती हैं।

चुनाव के शब्दकोष में सबसे लोकप्रिय शब्दावली है 'सत्ता विरोधी रुझान' जिसे अंग्रेजी में एंटी इन्कमबेंसी कहा जाता है। एंटी इन्कमबेंसी की हर व्यक्ति के पास अपनी-अपनी परिभाषा है, लेकिन मुझे लगता है कि यह मतदाताओं के दिमाग में इस विचार का कोड वर्ड है, 'अब बहुत हो गया है। मैं इतने घटिया शासन से थक गया हूं। अब इसे जाना चाहिए।' पिछले हफ्ते मुझे इसका प्रमाण भी मिल गया। मेरी एक पड़ोसी ने मुझसे कहा, 'मैंने पिछली बार कांग्रेस को यह सोचकर वोट दिया था कि वह थोड़ी अलग होगी, लेकिन कांग्रेसी भी वैसे ही निकले जैसे उनके पूर्ववर्ती थे। इसलिए मैं इस बार अपना वोट किसी और को दूंगी और मैं सत्ता में परिवर्तन तब तक करती रहूंगी जब तक कि मैं जो चाहती हूं, वह मुझे नहीं मिल जाता।' मेरी वह पड़ोसी अपनी सरकार से बहुत ही छोटी-सी चीज चाहती है। वह बस इतना चाहती हैं कि लाल बत्ती को पार करके स्कूटर चलाने वाले व्यक्ति को पकड़ने के लिए रोड पर कोई पुलिसवाला हो, वह चाहती है कि सरकारी स्कूल में शिक्षक अपनी पूरी ड्यूटी करें, वह चाहती है कि उसके टैंक का नल अचानक बंद न हो जाए, वह चाहती है कि उसके उस मामले में सेशन जज ईमानदारी से फैसला दें जिसमें उसका भतीजा उसकी जायदाद हड़पना चाहता है। जब मेरी पड़ोसी प्रशासन की बात करती है, तब वह केवल इतना सोचती है कि सरकार उसकी दिन-प्रतिदिन की जीवनचर्या को कैसे प्रभावित करती है। वह कानून-व्यवस्था के बारे में सोचती है, पेयजल, स्कूलों, स्वास्थ्य केंद्रों और गड्ढे विहीन सड़कों के बारे में सोचती है। मतदाताओं के इसी व्यवहार को चुनावी पंडित सत्ता विरोधी रुझान मानते हैं, जबकि वह केवल अपने अधिकारों की बात कर रही है।

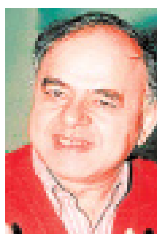

गुरचरन दास

बिजली, सड़क और पानी जैसे शब्द अब धीरे-धीरे हमारे राजनीतिक शब्दकोष में आते जा रहे हैं और वे अंततः मंदिर, मस्जिद और मंडल का स्थान ले लेंगे।

जब मध्यमवर्ग के लोगों की संख्या 50 फीसदी तक हो जाएगी, तब राजनीति पूरी तरह बदल जाएगी। 1980 के दशक में मध्यम वर्ग की संख्या कुल आबादी में महज आठ फीसदी थी।

जब मध्यम वर्ग की आबादी कुल जनसंख्या में आधी हो जाएगी, तब उसके वोट और मुद्दे मायने रखेंगे।

कई अन्य भारतीयों की तहर पहले मैं भी सोचा करता था कि भारतीय मतदाता बड़े मसलों जैसे समाजवाद, पूंजीवाद, धर्म और जाति के आधार पर वोट देते हैं, लेकिन अब मुझे एहसास हुआ है कि मतदान में बड़ी बातों का कोई महत्व नहीं होता। छोटी बातें ही ज्यादा मायने रखती है। दैनिक बातों में सरकार की विफलता या सफलता के ही मायने हैं। कई बार इस बात से कोफ्त होती है कि योजनाओं के क्रियान्वयन में हमारे लोकसेवकों की विफलता से रोज की जिंदगी में आम लोगों की परेशानियां कितनी बढ़ जाती हैं। चूंकि हमारे नौकरशाह जवाबदेह नहीं हैं, इसलिए हमारा प्रशासन भी कमजोर होता है और इसी वजह से हमारे सार्वजनिक संस्थान भी असफल हो जाते हैं। हमें लगता होगा कि हमारे नेता कभी तो इसे समझेंगे और कुछ करेंगे, लेकिन इसके बावजूद वे अब भी केवल हिंदुत्व, दलितों, पिछड़े वर्गों, और भारत-अमेरिका एटमी करार के बारे में ही बात करते हैं।

2004 का चुनाव भाजपा इसलिए नहीं हारी थी कि उसका 'शाइनिंग इंडिया' का नारा फेल हो गया। आरएसएस का यह मानना गलत था कि भाजपा इसलिए चुनाव हारी क्योंकि उसने हिंदुत्व के नारे को भुला दिया। धर्मनिरपेक्षवादियों का भी यह सोचना गलत था कि भाजपा को हिंदुत्व और गुजरात की कीमत चुकानी पड़ी। वामपंथी भी इस सोच में गलत थे कि मतदाताओं ने भाजपा को उसकी गलत आर्थिक नीतियों की सजा दी। दरअसल भाजपानीत एनडीए इसलिए हारा क्योंकि वह प्रशासन में कमजोर रहा।

बिजली, सड़क और पानी जैसे शब्द अब धीरे-धीरे हमारे राजनीतिक शब्दकोष में आते जा रहे हैं और वे अंततः मंदिर, मस्जिद और मंडल का स्थान ले लेंगे। जब मध्यमवर्ग के लोगों की संख्या 50 फीसदी तक हो जाएगी, तब राजनीति पूरी तरह बदल जाएगी। 1980 के दशक में मध्यम वर्ग की संख्या कुल आबादी में महज आठ फीसदी थी। आज यह संख्या करीब 29 फीसदी है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार 2020 तक आधी आबादी मध्यम वर्ग की हो जाएगी (बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के आदिवासी इलाकों को छोड़कर)। तब मध्यमवर्ग के वोट मायने रखेंगे और उनके मुद्दे भी। तभी राजनीतिक दल, बिजली, पानी, सड़क जैसे मुद्दों पर अपना प्रचार अभियान चलाएंगे।

■ **लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।**

युवा भारत पर बूढ़े नेताओं की छाया

हमारी सफलता के पीछे राजनीतिक कारण यह है कि प्रत्येक सरकार में कुछ युवा परिवर्तनकारी थे, जो समझते थे कि एक राष्ट्र सिर्फ लोगों को मछली देने से समृद्ध नहीं होता, बल्कि उन्हें मछली पकड़ना सिखाने से समृद्ध होता है।

सामयिक

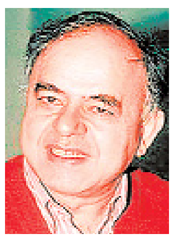

गुरचरन दास

इस चुनाव प्रचार के दौरान एक भी नेता ने हमें यह नहीं बताया कि क्यूं भारत दुनिया की दूसरी सबसे तेजी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था बनने के लिए उठ खड़ा हुआ। यह इसलिए नहीं हुआ क्योंकि हमारे नेताओं ने सस्ता चावल, आरक्षण, रोजगार गारंटी योजना और करों में छूट दी। इसलिए भारतीयों के दिमाग में एक संदेह सिर उठा रहा है कि ऐसे नेताओं के बावजूद उनका देश उन्नति कर रहा है और उनकी अर्थव्यवस्था रात में बढ़ती है, जब सरकार सो रही होती है।

अगर किसी को भूले-भटके ऐसा कोई नेता मिल भी जाए, जो भारत की सफलता के पीछे छिपे कारणों को समझ गया, तो वह संभवतः एक युवा नेता होगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वे युवा, आत्मविश्वासी भारतीय ही हैं, जिनके दिमाग औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त हैं और जो पूरी दृढ़ता के साथ निजी क्षेत्रों के माध्यम से भारत की सफलता की कहानी लिख रहे हैं। यह चीन के बिल्कुल उलट हैं, जहां यह सफलता राज्य सत्ता के द्वारा संभव हुई। यह भी बहुत महत्वपूर्ण है कि चीन के पोलित ब्यूरो का तीन चौथाई हिस्सा युवा है। उनकी तुलना में भारत में लगभग एक चौथाई बुढ़ा रहे नेताओं का रिकॉर्ड आपराधिक है। अगर भारत राज्य सत्ता के बगैर भी उन्नति कर सकता है तो यह बहुत कम मायने रखता है कि कौन चुनाव जीतता है और कौन गठबंधन सत्ता में आता है।

हिंदुस्तान के हालहा इतिहास में 1991 में हुए सुधार ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, बल्कि उसके बाद आई हर सरकार ने, भले धीमे और रुक-रुककर ही सही, सुधार जारी रखे। यहां तक कि धीमी गति के सुधारों ने भी भारत को तेजी से बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था बनाने में योगदान दिया। हमारी सफलता के पीछे राजनीतिक कारण यह है कि प्रत्येक सरकार में कुछ युवा परिवर्तनकारी थे, जो समझते थे कि एक राष्ट्र सिर्फ लोगों को मछली देने से समृद्ध नहीं होता, बल्कि उन्हें मछली पकड़ना सिखाने से समृद्ध होता है। 1997 में चिदंबरम ने 'ड्रीम बजट' पेश किया; अरुण शौरी में यह दृढ़ता थी कि अपने ही गठबंधन के भीतर विरोध के बावजूद घाटे में जा रही राज्य की कंपनियों को वे निजीकरण के रास्ते पर ले गए; बीसी खंडूरी में महत्वाकांक्षी हाइवे योजनाओं को आगे बढ़ाने की इच्छाशक्ति और कौशल था; लालू प्रसाद में इस बात की बेहतर समझ थी कि उन्होंने भारतीय रेलवे में महानतम बदलाव होते देखने के

> वे युवा, आत्मविश्वासी भारतीय ही हैं, जिनके दिमाग औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त हैं और जो पूरी दृढ़ता के साथ निजी क्षेत्रों के माध्यम से भारत की सफलता की कहानी लिख रहे हैं।
>
> **चीन के पोलित ब्यूरो का तीन चौथाई हिस्सा युवा है। उनकी तुलना में भारत में लगभग एक चौथाई बुढ़ा रहे नेताओं का आपराधिक रिकॉर्ड है। हमारे सुस्त, थके हुए और बूढ़े राजनीतिज्ञ जीवन की गलत अवस्था में ताकत को पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं।**

लिए उसे युवा सुधीर कुमार के जिम्मे छोड़ दिया; सुरेश प्रभु ने इलेक्ट्रिक पावर के क्षेत्र में आश्चर्यजनक काम किए, जब तक कि उनके ईर्ष्यालु और बुढ़ा रहे बॉस ने उन्हें नीचे नहीं खींचा। ये युवा लोग थे। अब इनकी तुलना दुखी, बुजुर्ग नेताओं से करिए, जो मीटिंगों के दौरान सो जाते हैं और जिन्होंने पूरी हठधर्मिता के साथ शिक्षा व्यवस्था में सुधार से इनकार कर दिया।

संस्कृत के महाकाव्य महाभारत में हमारे नेताओं के सीखने के लिए एक पाठ है कि उन्हें अपनी उम्र के साथ व्यवहार करना सीखना चाहिए। भारत में शास्त्रों के अनुसार जीवन चार अवस्थाओं में विभाजित था। पहला था ब्रम्हचर्य अर्थात जिसमें कोई अपने विद्यार्थी जीवन का आनंद लेता है; दूसरी अवस्था थी गृहस्थ, जब व्यक्ति घर बसाता है, परिवार को सुरक्षा देता है और संसार के आनंद का भोग करता है। तीसरी अवस्था थी वानप्रस्थ आश्रम, जिसमें व्यक्ति सांसारिक मोह-माया से मुक्त हो जाता है और चौथी और अंतिम अवस्था थी संन्यास आश्रम, जिसमें व्यक्ति जन्म के बंधन से आध्यात्मिक मुक्ति की तलाश में संसार का परित्याग कर देता है। इस तरह से एक समृद्ध और संतुलित जीवन जिया जाता है। महाभारत हमें याद दिलाता है कि दूसरी अवस्था इस सभ्यता का अत्यावश्यक भौतिक आधार है और यही समय है, जब राजनीतिज्ञों को राज्य की बागडोर संभालनी चाहिए। हमारे सुस्त, थके हुए और बूढ़े राजनीतिज्ञ जीवन की गलत अवस्था में ताकत को पकड़ने की कोशिश कर रहे हैं। वह महाकाव्य राहुल गांधी के प्रयासों को स्वीकार करेगा कि वह हमारे राजनीतिक जीवन में कुछ नया लेकर आएं। अर्थव्यवस्था के तेज विकास के कारण भारत में समृद्धि का प्रसार होगा, लेकिन खुशियों का नहीं, जब तक कि हम शासन को मजबूत नहीं बनाते। हर राजनीतिक पार्टी ने सस्ते चावल, ज्यादा से ज्यादा स्कूल और अस्पतालों का वादा किया है। लेकिन 80 प्रतिशत चावल गरीबों तक नहीं पहुंच सकेगा, 25 प्रतिशत शिक्षक स्कूलों से नदारद रहेंगे और 40 प्रतिशत डॉक्टर प्राथमिक चिकित्सा केंद्रों में नजर नहीं आएंगे।

कुछ युवा सांसदों ने इस बात को समझा है कि भारतीय मतदाताओं में जन सेवाओं में होने वाले भ्रष्टाचार को लेकर कितनी निराशा है। इसी वजह से उन्होंने बिल्कुल सही निष्कर्ष निकाला है कि हमारी पहली वरीयता आर्थिक सुधार नहीं, बल्कि सरकार में सुधार होना चाहिए। हमें भी भ्रष्टाचार के खिलाफ कुरुक्षेत्र जैसा युद्ध लड़ना चाहिए। युवा नेता इस बात को समझते हैं और वही हमारा भविष्य लिखेंगे।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

विकास की राह पर जुदा भारत और चीन

चीन सूप के समान है जिसमें शामिल सभी तत्वों की पहचान खो गई है, जबकि भारत सलाद की ऐसी प्लेट है जिसमें प्रत्येक सब्जी अपनी अलग पहचान बनाए हुए है। यही वजह है कि चीन में हमेशा केंद्रीकृत शासन व्यवस्था ही रही है, जबकि भारत में लोकतंत्र।

सामयिक

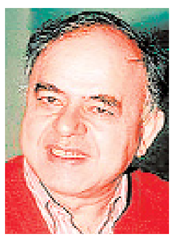

गुरचरन दास

लंदन में इस मंगलवार को होने वाली एक परिचर्चा की तैयारियां करते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि किसी भी देश की सफलता के लिए जरूरी है कि उसे अपने धर्म के प्रति सच्चा रहना होगा। इस परिचर्चा का विषय है, 'भविष्य भारत का है, चीन का नहीं।'

चीन की आश्चर्यजनक प्रगति से सम्मोहित हुआ जा सकता है और भारत के अस्त-व्यस्त लोकतंत्र से निराशा हो सकती है। लेकिन तथ्य यही है कि भारत लोकतंत्र के सिवाय कुछ भी नहीं हो सकता। भारत का धर्म ही लोकतंत्र है क्योंकि इतिहास गवाह है कि इसने अलग-अलग समूहों को एकत्र किया और उन्हें भारतीयता के साथ अपनी अलग पहचान बनाए रखने की भी अनुमति दी। चीन ने अपने भिन्न-भिन्न समूहों को एक सजातीय कंफ्यूशियन समाज में बदल दिया। चीन सूप के समान है जिसमें शामिल सभी तत्वों की पहचान खो गई है जबकि भारत सलाद की ऐसी प्लेट है जिसमें प्रत्येक सब्जी साथ-साथ रहते हुए भी अपनी अलग पहचान बनाए हुए है।

यही वजह है कि चीन में हमेशा एक केंद्रीकृत शासन व्यवस्था ही रही है। निरंकुश शासन की परम्परा आज के सुधारवादी साम्यवादी शासनकाल में भी चली आई है। आज का चीन एक ऐसे बिजनेस कॉर्पोरेशन के समान है जिसके प्रत्येक मेयर व प्रत्येक पार्टी सचिव का निवेश, आउटपुट और विकास को लेकर अपना लक्ष्य है और ये लक्ष्य राष्ट्रीय लक्ष्यों से साझा हैं। जो अपने इन लक्ष्यों को हासिल कर लेता है, वह बड़ी तेजी के साथ ऊपर चढ़ जाता है। इसी का नतीजा है कि चीन योग्य टेक्नोक्रेट द्वारा संचालित है, लेकिन तानाशाही की वजह से वहां असहमत होने की कोई गुंजाइश नहीं है। तानाशाही शासन प्रणाली की सबसे बड़ी समस्या यही होती है कि जो सहमत नहीं होते हैं, उन्हें निर्दयतापूर्वक सजा दी जाती है।

वहीं भारत कई हितों को एक साथ समायोजित करता है। इसी के फलस्वरूप रोजाना कई वार्ताएं की जाती हैं। इसी प्रणाली को हम लोकतंत्र कहते हैं। चूंकि हमारे यहां हर चीज में बहस होती है, इससे व्यवस्था में धीमापन आता है। लेकिन इसका सकारात्मक पक्ष भी है। हमारे राजनेताओं को मानवाधिकार उल्लंघन से संबंधित मामलों पर चिंता करने के लिए बाध्य किया जा सकता है। हमारा लोकतंत्र सेफ्टी वॉल्व के समान है जो असंतोष को

> भारत और चीन दोनों समृद्धि के लिए पूंजीवाद को स्वीकार कर चुके हैं। लेकिन पूंजीवाद लोकतंत्र में कहीं अधिक सहज महसूस करता है। लोकतंत्र स्वाभाविक रूप से उद्यमशीलता का पोषण करता है और यही भारत को लाभ है।
>
> **भारत का तरीका कहीं अधिक टिकाऊ है क्योंकि यहां के लोगों ने जमीन से ऊपर उठकर सफलता की इबारत लिखी है। इसके विपरीत चीन की सफलता का श्रेय वहां के प्रभावी शासन को जाता है।**

वाष्प के रूप में निकाल देता है।

भारत और चीन दोनों समृद्धि के लिए पूंजीवाद को स्वीकार कर चुके हैं। लेकिन पूंजीवाद लोकतंत्र में कहीं अधिक सहज महसूस करता है। लोकतंत्र स्वाभाविक रूप से उद्यमशीलता का पोषण करता है और यही भारत को लाभ है। चीन को उद्यमों के सृजन में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है। उसके अधिकतम उद्यमी सरकारी हैं और वे उतने दक्ष और रचनात्मक नहीं हो सकते, जितने कि निजी उद्यमी। यह वजह है कि चीन को हमारी श्रेष्ठ कंपनियों से ईर्ष्या होती है जिन्होंने वैश्विक स्तर पर अपनी धाक जमाई है। उद्यमी हमेशा लोकतंत्र में सफल होते हैं क्योंकि लोकतंत्र सदैव सम्पदा के अधिकारों का सम्मान करता है। हमारी न्यायपालिका और कानूनों की सुस्ती से दुख तो होता है, लेकिन ये अंततः हमारा संरक्षण ही करते हैं।

भारत में हम अपनी आजादी की कीमत नहीं समझते। दरअसल, आजादी उस हवा की तरह है जिसकी महत्ता का भान हमें सांस लेते समय नहीं होता। उसका एहसास तभी होता है तब वह नहीं होती। भारतीयों में ब्रिटिश राज से आजाद होने की तमन्ना तभी जागी जब 1919 में जनरल आर डायर ने जलियांवाला बाग में 379 लोगों को गोलियों से छलनी करवा दिया। वर्ष 1989 में चीन के थियामैन चौक में हुआ नरसंहार चीन का जलियांवाला बाग था जिसमें 300 से अधिक छात्र मारे गए थे। चीन भले ही काफी लोगों को गरीबी रेखा से ऊपर उठाने में सफल रहा हो, लेकिन वहां के गरीब भी आजादी की ललक लिए हुए हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि चीन ने सभी बच्चों को अच्छी शिक्षा मुहैया करवाकर समान अवसर प्रदान करने का बेहतरीन कार्य किया है। इसके विपरीत लोकतांत्रिक भारत का प्रदर्शन बदतर रहा है। हमने अवसर उपलब्ध करवाने के लिए कोटा और आरक्षण को ही माध्यम चुना। इससे मायावतियों का उभार जरूर हुआ और दलितों को कुछ हद तक गरिमा हासिल हुई। लेकिन बेहतर शिक्षा का कोई तोड़ नहीं है जिससे रोजगार के अच्छे अवसर मिलते हैं।

लेकिन भारत का तरीका कहीं अधिक टिकाऊ है क्योंकि यहां के लोगों ने जमीन से उठकर सफलता की इबारत लिखी है, जबकि चीन की सफलता का श्रेय वहां के प्रभावी शासन को जाता है। इस मामले में चीन की स्थिति नाजुक है क्योंकि नेता कभी भी बदल सकते हैं। हमारी सरकार ने कई तरह की विफलताओं के बावजूद वर्ष 1991 में जनता को जो मार्ग दिखाया, उसका कोई सानी नहीं है। जनता ने भी सुधारों का स्वागत किया और भारतीय अर्थव्यवस्था को दूसरी सबसे तेज गति से बढ़ने वाली अर्थव्यवस्था में बदल दिया। भारत का रास्ता धीमा जरूर है, लेकिन टिकाऊ है।

■ लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

टुकड़ों में पाकिस्तान समस्या का समाधान

» सामयिक | गुरचरन दास

एक समस्या पाकिस्तान की फौज को लेकर है जिसने पिछले दो दशक के दौरान एक 'वैचारिक' बाना धारण कर लिया है। इसकी शुरुआत जिया उल हक के जमाने में हुई थी जब धीरे-धीरे सेना का इस्लामीकरण किया जाने लगा।

पाकिस्तान स्वयं में एक बहुत बड़ी समस्या है और इस बड़ी समस्या को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटकर देखना कहीं अधिक आसान होगा।

पाकिस्तान की एक समस्या कश्मीर को लेकर है, लेकिन इसके समाधान के कई ऐतिहासिक मौके हम गंवा चुके हैं।

पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमांत प्रांत में तालिबान के खिलाफ पाकिस्तानी फौज की सफलता के बावजूद वहां स्थिति गंभीर बनी हुई है। मेरे एक पाकिस्तानी मित्र ने बताया कि इलाके के सम्पन्न लोग स्थिति के और भी बदतर होने से पहले ही इलाका छोड़ देना चाहते हैं। पाकिस्तान लंबे अर्से से अपने यहां तालिबान की उपस्थिति से इनकार करता आया है। अब अमेरिका के दबाव में आकर अंततः उसने कार्रवाई शुरू की है। पाकिस्तान स्वयं में एक बहुत बड़ी समस्या है और मुझे लगता है कि बड़ी समस्या को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांटकर देखना कहीं आसान होगा। मैं पाकिस्तान नामक बड़ी समस्या को चार छोटी-छोटी समस्याओं - तालिबान, पाकिस्तानी फौज, कश्मीर और उपमहाद्वीप में स्थाई शांति के रूप में बांटता हूं। सबसे पहले तालिबान से शुरुआत करते हैं। अफगानिस्तान में अफीम की खेती तालिबान के लिए धनराशि जुटाने का बड़ा स्रोत है। आखिर इसका समाधान क्या है? कोलंबिया विश्वविद्यालय में भारतीय अर्थशास्त्री दीपक लाल ने एक जर्नल में लिखे आलेख में इसका समाधान बताया है। वे लिखते हैं कि अमेरिका को अफीम की सारी फसल खरीद कर उसे मॉर्फीन में बदल देना चाहिए और यह मॉर्फीन तीसरी दुनिया के देशों को दान कर देनी चाहिए जो एड्स से संघर्ष कर रहे हैं। इससे तालिबान के लिए धन का एक बड़ा स्रोत खत्म हो जाएगा।

दूसरी समस्या पाकिस्तान की फौज को लेकर है जिसने पिछले दो दशक के दौरान एक 'वैचारिक' बाना धारण कर लिया है। इसकी शुरुआत जिया उल हक के जमाने में हुई थी जब धीरे-धीरे सेना का इस्लामीकरण किया जाने लगा। सेना में शहरों के ऐसे युवा भर्ती होने लगे जो कट्टर इस्लामिक विचारधारा में रंगे हुए हैं। इनकी तालिबान के प्रति सहानुभूति रही है। इन्हें पीढ़ियों से यही बताया जाता रहा है कि उनका असली दुश्मन भारत है। ऐसे में पाकिस्तानी सेना के ऐसे फौजियों के लिए तालिबान के खिलाफ लड़ाई दुविधा का सबब बन गई है। इससे पाक फौज में विद्रोह की स्थिति भी पैदा हो सकती है। इसका समाधान इसी में है कि उसे यह विश्वास दिलाना होगा कि असल दुश्मन भारत नहीं है।

तीसरी समस्या कश्मीर की है। हम इस समस्या के समाधान के कई ऐतिहासिक मौके गंवा चुके हैं। पाकिस्तानियों, भारतीयों और कश्मीरियों को इस मुद्दे पर सहमत किया जाना चाहिए कि नियंत्रण रेखा में ही इस समस्या का स्थाई समाधान है। इसके समाधान का अच्छा मौका बांग्लादेश युद्ध के समय आया था, जब पाक सेना के अधिकारियों व जवानों को छोड़ने के बदले में यह शर्त रखी जा सकती थी। भारत-पाक के बीच जारी शांति वार्ताओं के दौरान मुशर्रफ इस विचार के नजदीक पहुंच भी गए थे।

जहां तक भारत और पाकिस्तान के बीच स्थाई संबंधों का सवाल है, इसके लिए दोनों देशों को ही पहल करनी होगी। दीर्घकालीन शांति उपमहाद्वीप के देशों के एक परिसंघ के रूप में संगठित होने से संभव हो सकती है।

लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

विश्व विजय का भारतीय कौशल

» सामयिक | गुरचरन दास

पांच साल पहले की बात होती तो ऐसे आयोजन से जुड़े निजी क्षेत्र के हाथ-पांव ठंडे पड़ जाते, लेकिन उद्यमशीलता की इस नई भावना को सैल्यूट करना होगा जिसकी वजह से आईपीएल ने हार नहीं मानी। अंततः दक्षिण अफ्रीका के साथ उसकी डील पक्की हुई।

पिछले माह भारतीय अच्छे मूड में दिखाई दिए। करीब 58 फीसदी लोगों ने विश्व के सबसे बड़े चुनावी आयोजन में भाग लिया और इसके बदले में उन्हें अगले पांच सालों के लिए स्थाई सरकार का तोहफा प्राप्त हुआ। कांग्रेस ने जीत के साथ पूरी गरिमा बरती। उसने सरकार में युवाओं को शामिल किया। खराब प्रदर्शन करने वाले मंत्रियों को बाहर का रास्ता दिखाकर अच्छे लोगों को महत्वपूर्ण मंत्रालयों का कार्यभार सौंपा।

खुशी की दूसरी वजह यह है कि हम इंडियन प्रीमियर लीग (आईपीएल-2) का सफलतापूर्वक आयोजन करने में सफल रहे। पिछले एक साल के दौरान चीन और भारत दोनों ने ही खेलों के विशाल आयोजन किए हैं। चीन ने जिस तरह से ओलिंपिक खेलों का आयोजन किया, वह उसके सामर्थ्य का ही परिचायक था। इसके विपरीत आईपीएल-2 निजी क्षेत्र का प्रदर्शन था। ये दोनों आयोजन चीन और भारत की जीवन पद्धतियों की झलक हैं और दोनों के राजनीतिक और आर्थिक विकास के अलग-अलग मॉडलों के बीच अंतर दिखाते हैं।

भारतीय लोग ओलिंपिक की कोई परवाह नहीं करते हैं। वे क्रिकेट के प्रति ही जुनूनी हैं। क्रिकेट के साथ बॉलीवुड के मिश्रण से बना इंडियन प्रीमियर लीग। आईपीएल का दूसरा संस्करण भारत में ही अप्रैल-मई में होना था, लेकिन चुनावों की वजह से सरकार ने उसकी अनुमति नहीं दी। लाहौर में श्रीलंकाई क्रिकेटरों की बस पर हुए हमले की वजह से उसने चुनाव के साथ आईपीएल को सुरक्षा मुहैया करवाने से इनकार कर दिया। पांच साल पहले की बात होती तो ऐसे आयोजन से जुड़े निजी क्षेत्र के हाथ-पांव ठंडे पड़ जाते, लेकिन उद्यमशीलता की इस नई भावना को सैल्यूट करना होगा जिसकी वजह से आईपीएल ने हार नहीं मानी। इसने इंग्लैंड और दक्षिण अफ्रीका के क्रिकेट बोर्डों के साथ बातचीत की। अंततः दक्षिण अफ्रीका के साथ उसकी डील पक्की हुई और उसने आठ भारतीय टीमों को दक्षिण अफ्रीका ले जाकर पूरे 56 मैचों का सफल आयोजन किया।

साहस, महत्वाकांक्षा, सटीक सोच, सूक्ष्म योजना से भारतीय कंपनियां विश्व भर में अपना लोहा मनवा रही हैं।

चीन से तुलना करें तो भारतीय राज्य कमजोर ही नजर आता है।

कई लोगों ने सवाल उठाए कि दक्षिण अफ्रीका में भारतीय टीमों के मैच देखने भला कौन आएगा? आलोचकों ने भविष्यवाणी की कि मैदानों में कोई भीड़ नहीं होगी, कोई प्रायोजक नहीं मिलेगा, टीवी रेटिंग्स कम होंगी और पूरा आयोजन ही एक तरह से फ्लॉप शो साबित हो जाएगा। लेकिन ये सभी भविष्यवक्ता गलत साबित हुए। साहस, महत्वाकांक्षा, सटीक सोच, सूक्ष्म योजना और उसके बेहतरीन क्रियान्वयन से यह आयोजन सफल रहा। यही वह कौशल है जिससे भारतीय कंपनियां विश्व भर में अपना लोहा मनवा रही हैं। दर्शकों की संख्या से हिसाब से आईपीएल-2 तो पहले संस्करण से भी अधिक सफल रहा।

अमेरिका की मेजर लीग बेसबाल को अपने देश से बाहर कोई आयोजन करवाने में सौ साल लग गए। अमेरिकी फुटबॉल लीग को अमेरिका से बाहर लंदन के वेम्बले स्टेडियम में पहला मुकाबला आयोजित करवाने में करीब 50 साल लग गए। इसके विपरीत आईपीएल दूसरे साल में ही वैश्विक हो गया। यह इस बात का प्रमाण है कि आखिर भारतीय कंपनियां इतनी जल्दी वैश्विक क्यों हो जाती हैं। इसके पीछे है भारतीय कंपनियों की महत्वाकांक्षा और अद्‌भुत क्षमता।

जहां भारतीय निजी क्षेत्र ने अपनी काबिलियत दिखा दी, वहीं इसके विपरीत अगर चीन से तुलना करें तो भारतीय राज्य कमजोर ही नजर आया। इसलिए जब गृह मंत्री ने आतंकी हमले की बात करते हुए आईपीएल के आयोजन को मंजूरी देने से इनकार कर दिया तो भारतीय जनता ने उसे मान भी लिया। जनता भारतीय राज्य की कमजोरी को समझती है। इसलिए जब दो सप्ताह पहले एक सर्वे में भारतीय नौकरशाही को दुनिया की निकृष्टतम नौकरशाही में से एक का दर्जा मिला तो उससे भारतीयों को कोई आश्चर्य नहीं हुआ। लेकिन यदि ऐसा ही कोई सर्वे भारतीय उद्यमियों को लेकर हुआ होता तो वे शीर्ष स्थानों पर ही कहीं होते।

भारत एक गरीब देश है। करीब 90 फीसदी लोगों को अनौपचारिक क्षेत्रों में रोजगार मिलता है। लेकिन रोजाना उठने के बाद वे बैठे नहीं रहते। वे अपनी रोजी-रोटी कमाने में भी एक तरह की उद्यमशीलता दिखाते हैं। वे भीख नहीं मांगते या चोरी नहीं करते। समस्या हमारे नियमों, हमारी पुलिस व्यवस्था और हमारी नौकरशाही में है। ये व्यापार करने में लोगों के सामने बाधाएं खड़ी करते हैं। इसलिए व्यवसाय करने में सुभीते के मामले में भारत दुनिया में 128वें स्थान पर है। भारतीय जनता सब्सिडी के बजाय ऐसा माहौल चाहेगी जिसमें वे अपना धंधा आसानी से कर सकें। नई सरकार को इस बारे में सोचना चाहिए। इसके लिए उसकी प्राथमिकता की सूची में प्रशासनिक, पुलिस और न्यायिक सुधार शीर्ष पर होने चाहिए।

लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

बदलाव की राह दिखाते कुछ मंत्री

» सामयिक | गुरचरन दास

यूपीए में ऐसे भी कई मंत्री हैं, जो राष्ट्र के चरित्र के प्रति ईमानदार बने रहना चाहते हैं। उनका मानना है कि गरीब हाथ फैलाकर शर्मिंदा होना नहीं चाहते, बल्कि गर्व के साथ कार्य करना चाहते हैं। इसलिए ये गरीबों के लिए अनुकूल हालात पैदा करना चाहते हैं।

शेक्सपियर के नाटक 'हेमलेट' में पोलोनियस अपने बेटे को जो सलाह देते हैं, उसे बजट बनाने में जुटी यूपीए सरकार को भी दिमाग में रखना चाहिए। पोलोनियस कहता है, 'अपने प्रति सच्चे बने रहो।' इसका मतलब यही था कि जिंदगी के प्रति निष्ठा और सफलता स्वयं के प्रति ईमानदार बने रहने में है, न कि दूसरों जैसा बनने की कोशिश करने में।

इस बजट में गरीबों के लिए 25 किलो गेहूं व चावल तीन रुपए प्रति किलो की दर पर उपलब्ध करवाने की योजना की घोषणा किए जाने की उम्मीद है, लेकिन इसके विफल होने की ही आशंका ज्यादा है क्योंकि यह योजना देश के चरित्र से मेल नहीं खाती। 18 साल से जारी आर्थिक सुधारों ने भारत को एक निश्चित चरित्र वाले राष्ट्र में बदल दिया है। यह चरित्र है देश का जीवंत और ऊर्जावान निजी क्षेत्र।

हममें से कई लोग गरीबों के प्रति कांग्रेस की प्रतिबद्धता की सराहना करते हैं, लेकिन सरकार की सीमाओं को समझने की उसकी अक्षमता को लेकर गुस्सा भी आता है। हमारा अनुभव है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली (पीडीएस) में भारी भ्रष्टाचार फैला हुआ है। माना जाता है कि पीडीएस के तहत जो अनाज गरीबों के पास जाना चाहिए, उसका कम से कम 70 फीसदी हिस्सा कालाबाजारी की भेंट चढ़ जाता है। इसलिए तीन रुपए प्रति किलो में अनाज की नई योजना इस बर्बादी को और बढ़ाने का ही काम करेगी।

अर्थशास्त्रियों का लंबे समय से मानना रहा है कि सब्सिडी खराब है क्योंकि यह बाजार को विकृत करती है। इससे निर्माताओं और खरीददारों को गलत संकेत मिलता है। सब्सिडी वाले अनाज से किसानों के हितों को चोट पहुंचेगी क्योंकि काले बाजार में तीन रुपए प्रति किलो वाला अनाज आते ही खाद्यान्न पदार्थों का बाजार मूल्य गिरने लगेगा। इसलिए अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यदि गरीबों की वाकई मदद करनी है तो बेहतर तो यह होगा कि स्मार्ट कार्ड के जरिए उनके खातों में ही सीधा पैसा भिजवा दिया जाए। स्मार्ट कार्ड से किसी भी प्रकार की गड़बड़ी रोकी जा सकती है और राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना में इनका सफलता के साथ इस्तेमाल किया जा रहा है।

सरकारी स्कूलों की दुर्दशा से वाकिफ कपिल सिब्बल सरकारी-निजी भागीदारिता पर जोर दे रहे हैं।

गरीबों की बेहतरी का एक तरीका यह है कि उन्हें सड़कें उपलब्ध करवा दी जाएं।

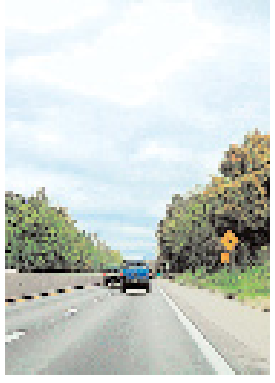

लेकिन यूपीए में ऐसे भी कई मंत्री हैं, जो पोलोनियस की सलाह पर चलते हुए राष्ट्र के चरित्र के प्रति ईमानदार बने रहना चाहते हैं। उनका मानना है कि गरीब हाथ फैलाकर शर्मिंदा होना नहीं चाहते, बल्कि गर्व के साथ कार्य करना चाहते हैं। इसलिए मंत्रियों का यह समूह गरीबों के लिए अनुकूल हालात पैदा करना चाहता है। इसके लिए एक सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि उनके बच्चों को अच्छी शिक्षा प्रदान की जाए।

केंद्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री कपिल सिब्बल सरकारी स्कूलों की दुर्दशा से अच्छी तरह वाकिफ हैं। शिक्षक आते नहीं हैं और स्थिति इतनी बदतर है कि गरीब घरों के बच्चे भी सरकारी स्कूलों से कन्नी काटने को मजबूर हैं। इसीलिए वे बेहतर शिक्षा के लिए सरकारी-निजी भागीदारिता पर जोर दे रहे हैं। श्रम एवं रोजगार मंत्री एमएम खड़गे ने 30 हजार करोड़ रुपए की लागत से ऐसी योजना की घोषणा की है जो लोगों के कौशल को निखारेगी। वे जानते हैं कि व्यावसायिक शिक्षा प्रदान के लिए कंपनियों को शामिल करना कितना जरूरी है। कौशल बहुत ही महत्पूर्ण है क्योंकि किसी व्यक्ति को मछली पकड़कर देने से अच्छा तो उसे यह सिखाना है कि मछली कैसे पकड़ी जाए। गरीबों के सशक्तीकरण का एक अन्य बेहतर तरीका यह है कि उन्हें अच्छी सड़कें उपलब्ध करवा दी जाएं ताकि वे अपने उत्पादों को गांव से शहर ले जा सकें। हमारे ऊर्जावान मंत्री कमलनाथ लाल फीताशाही को कम करके सड़क बनवाने की महत्वाकांक्षी परियोजनाओं का भार निजी क्षेत्र पर डालने की दिशा में आगे बढ़े हैं। इनके अलावा भी ऐसे कुछ मंत्री हैं जो सरकार की सीमाओं को समझते हैं और इसलिए उद्यमियों को बड़ी भूमिका सौंपे जाने के पक्ष में हैं। ऐसे ही एक मंत्री हैं कोयला मंत्री श्रीप्रकाश जायसवाल। उन्होंने भ्रष्ट कोयला खनन क्षेत्र में सरकार के एकाधिकार को समाप्त करने की घोषणा की है। इससे हमें उम्मीद बंधती है कि देश की ऊर्जा जरूरतों की जो क्षेत्र 55 फीसदी पूर्ति कर रहा है, उसमें अंततः दक्षता आएगी। निष्पक्ष न्यायपालिका से गरीबों को काफी मदद मिलती है। विधि मंत्री वीरप्पा मोइली ने न्याय व्यवस्था में आमूलचूल बदलाव करने का वादा किया है जिससे अदालतों में लटके तीन करोड़ से भी अधिक मामलों के निस्तारण में सहायता मिलेगी।

कम से कम ये पांच मंत्री पोलोनियस की सलाह पर चल रहे हैं। वे सरकार की सीमा को समझते हैं। हालांकि इसके बावजूद हमें निकट भविष्य में तीव्र आर्थिक सुधारों की उम्मीद नहीं करनी चाहिए।

लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

एक टैक्स जो देश को ईमानदार बनाएगा

सामयिक | गुरचरन दास

जीएसटी भारत के लिए सर्वश्रेष्ठ होगा। इसमें देश में लागू सभी अप्रत्यक्ष कर समाहित हो जाएंगे। यह टैक्स हमें ईमानदार करदाता बनाएगा और काले धन को कम करेगा। इससे पूरे देश में एक समान बाजार निर्मित हो सकेगा।

राष्ट्र नई सरकार से अगले पांच साल के लिए आर्थिक मिशन का इंतजार कर रहा था, लेकिन प्रणब मुखर्जी यह अवसर चूक गए।

माना जाता है कि मनमोहन सिंह वामदलों की वजह से ही आर्थिक सुधारों की दिशा में कदम आगे नहीं बढ़ा सके थे।

कई लोगों को यह पसंद नहीं है कि बजट को सुर्खियों में स्थान मिले। लेकिन मेरा मानना है कि राजनीति की खबरों के बीच अगर बजट के बहाने दो सप्ताह के लिए हमारा ध्यान देश की आर्थिक सेहत की ओर जाता है तो यह अच्छी बात है। वर्ष 1991 से हम यही उम्मीद करते आए हैं कि वित्त मंत्री का बजट भाषण देश की भावी अर्थव्यवस्था का दृष्टिकोण पेश करे। लेकिन 6 जुलाई 2009 को ऐसा नहीं हुआ। राष्ट्र नई सरकार से अगले पांच साल के लिए आर्थिक मिशन का इंतजार कर रहा था, लेकिन प्रणब मुखर्जी यह अवसर चूक गए।

शेयर बाजार के गिरने, निवेशकों के नाराज होने, बजट घाटे के बढ़ने इत्यादि बजट को लेकर कई बातें कही गई हैं। इसके बावजूद मुझे लगता है कि बजट में कुछ सकारात्मक बातें भी हैं। पुराने दिनों में राजकोषीय घाटे को पाटने के लिए वित्त मंत्री टैक्स बढ़ा देते थे। लेकिन मुखर्जी ने व्यक्तिगत टैक्स की दरों को 34 से घटाकर 31 फीसदी कर दिया है। कंपनियों के लिए भी टैक्स दरों को पुराने स्तर पर ही बरकरार रखा गया है। उन्होंने फ्रिंज बेनिफिट टैक्स को खत्म कर दिया जिसकी गणना करना ही एक दु:स्वप्न के बराबर था। हालांकि मिनिमम अल्टरनेटिव टैक्स (मैट) को बढ़ाकर उन्होंने उभरती हुई कंपनियों के हितों को चोट पहुंचाई है।

बजट का सबसे सकारात्मक पहलू गुड्स एंड सर्विसेज टैक्स (जीएसटी) को अप्रैल 2010 से लागू करने के प्रति वित्त मंत्री की प्रतिबद्धता है। भारत के लिए यह सर्वश्रेष्ठ होगा। इसमें देश में लागू सभी अप्रत्यक्ष कर (जैसे उत्पाद शुल्क, बिक्री कर, सेवा शुल्क इत्यादि) समाहित हो जाएंगे। इसका उन सभी लोगों को लाभ मिलेगा जो अभी टैक्स नेट में आने से बचने के लिए कर चोरी का प्रयास करते हैं। चूंकि यह प्रत्येक स्तर के मूल्य संवर्द्धित हिस्से पर लगेगा, इसलिए इसमें उन विक्रेताओं को ही नुकसान होगा जो ग्राहकों को बिल नहीं देंगे। इस प्रकार यह टैक्स हमें ईमानदार करदाता बनाएगा और काले धन को कम करेगा। साथ ही अप्रत्यक्ष करों का कुल बोझ भी कम हो सकेगा। सबसे बड़ी बात कि इससे पूरे देश में एक समान बाजार निर्मित हो सकेगा।

इस साल मई माह में कांग्रेस लोक-लुभावने आर्थिक वादों के साथ सत्ता में आई थी। 6 जुलाई को सरकार ने इन वादों को पूरा कर दिया है। लेकिन भारत के लिए यह बुरी खबर है। लोक-लुभावन योजनाओं से देश के गरीबों को उन्नत नहीं किया जा सकता। यह बजट पार्टी अध्यक्ष सोनिया गांधी के लोक-लुभावन के दर्शन पर आधारित है, लेकिन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के ट्रैक रिकॉर्ड को देखते हुए यह निराशाजनक है। सिंह के मेरे जैसे प्रशंसकों का मानना है कि प्रथम कार्यकाल में मनमोहन सिंह वामदलों की वजह से सुधारों की दिशा में आगे नहीं बढ़ पाए, लेकिन अब कांग्रेस अपने उन साझेदारों से पल्ला छुड़ा चुकी है और इसलिए देश को पीछे ले जाने का कोई कारण नहीं था।

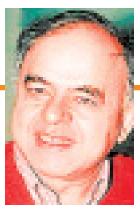

लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।

बातें ही नहीं, सख्त कदम भी उठाएं

सामयिक | गुरचरन दास

भारत द्वारा यह कहने मात्र से काम नहीं चलेगा कि वह कार्बन उत्सर्जन में कटौती की कोई सीमा को नहीं मानेगा। उसे इसी साल कोपेनहेगन में होने वाली बैठक में कार्बन उत्सर्जन को लेकर सकारात्मक भूमिका निभानी होगी।

भारत के सामने एक विकल्प यह भी है कि वह औद्योगिकीकरण का ऐसा मॉडल अपनाए जो महंगा तो हो, लेकिन उसमें कार्बन उत्सर्जन कम होता हो।

इसके लिए विकसित देशों को मदद करनी होगी, लेकिन वे भारत की सक्रिय भूमिका के बगैर सहायता नहीं करेंगे।

अमेरिका की विदेश मंत्री हिलेरी क्लिंटन पिछले सप्ताह भारत में थीं। उन्होंने कार्बन उत्सर्जन में कमी करने के अंतरराष्ट्रीय प्रयासों में भागीदार बनने के लिए भारत पर भी दबाव डाला। यह साफ है कि पूरी दुनिया में तापमान खतरनाक स्तर तक पहुंच चुका है और इससे पर्यावरण को गंभीर क्षति पहुंच सकती है। इसमें कोई दो राय नहीं है कि प्रदूषण फैलाने के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार पश्चिमी देश विशेषकर अमेरिका है, लेकिन असल खतरा यह है कि भारत में औद्योगिकीकरण बढ़ने के साथ प्रदूषण की स्थिति और बदतर होगी और इसका ज्यादा असर भारत पर पड़ेगा।

पर्यावरण मंत्री जयराम रमेश ने हिलेरी को साफ कर दिया कि भारत उत्सर्जन में कटौती की किसी सीमा को स्वीकार नहीं करेगा। मंत्री की इस साफगोई से कई भारतीय खुश हुए। रमेश अपनी जगह सही भी हैं। हमारे आधे गांवों में अभी भी बिजली नहीं पहुंच पाई है। ऐसे में भारत किसी बाध्यता को कैसे मान सकता है? हालांकि इसके बावजूद भारत को जलवायु परिवर्तन पर होने वाले वैश्विक समझौतों में भाग लेना होगा। भारत एक जिम्मेदार राष्ट्र है और वह उससे पीछे नहीं हट सकता। हालांकि यदि भारत को अपने करोड़ों लोगों के जीवन स्तर को सुधारना है तो उसे औद्योगिकीकरण को बढ़ावा देना होगा। इससे वह अधिक ऊर्जा का इस्तेमाल करेगा जिसका मतलब होगा वातावरण में और अधिक कार्बन का उत्सर्जन। यानी अगर विश्व को सुरक्षित रखना है और भारत व चीन जैसे देशों को आगे बढ़ना है तो इसके लिए विकसित देशों को थोड़ा-सा त्याग करना होगा।

भारत के सामने दूसरा विकल्प यह है कि वह औद्योगिकीकरण का ऐसा मॉडल अपनाए जो महंगा तो हो, लेकिन उसमें कार्बन उत्सर्जन कम होता हो। इसके लिए विकसित देशों को भारत की वित्तीय मदद करनी होगी। अंतरराष्ट्रीय वार्ताओं में भारत का यही रुख रहना चाहिए, न कि उसे बार-बार यह दोहराना चाहिए कि वह कार्बन उत्सर्जन की सीमा को किसी भी कीमत पर नहीं मानेगा। भारत बहुत ही गलत तरीकों से ऊर्जा का इस्तेमाल करता आया है। हम गरीबों के लिए केरोसिन में सब्सिडी देते हैं, लेकिन वह असली गरीबों तक पहुंच ही नहीं पाती हैं। इसके बजाय उसका इस्तेमाल डीजल में मिलावट के रूप में होता है जिसका नतीजा पर्यावरण प्रदूषण के रूप में निकलता है। फिर हम सार्वजनिक वाहनों पर अधिक टैक्स लगाते हैं, लेकिन व्यक्तिगत वाहनों पर कम। यह देश में कार्बन उत्सर्जन की मात्रा को बढ़ाने का ही काम करता है। भारत को अपने लोगों को शिक्षित व जागरूक करने की जरूरत है। इसी साल जब विश्व के नेता कोपेनहेगेन सम्मेलन में बैठेंगे तो भारत को एक सकारात्मक नजरिया रखना होगा। धनी व विकसित देश यह जाने बगैर भारत की मदद करने वाले नहीं हैं कि हम इस दिशा में क्या कर रहे हैं। भारत को दर्शाना होगा कि अंतरराष्ट्रीय प्रयासों में वह भी सारी दुनिया के साथ है।

लेखक प्रॉक्टर एंड गैंबल इंडिया के चेयरमैन रह चुके हैं।